भेंट

'भाई'

को

प्रेमी भक्त ने आनंद का जो स्रोत बहाया वह जयदेव के 'धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली' में पूर्णतः व्याप्त था। शृंगार की, मिलन-माधुरी की जो पराकाष्ठा 'गीत-गोविंद' में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार मिथिला-कोकिल विद्यापति के 'जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरिपित भेल' में भी प्रेम की अनन्त अतृप्त आकांक्षा की बड़े ही भावपूर्ण, मधुर छन्दों में उद्भावना हुई है। जयदेव तथा विद्यापति प्रेम के संभोग शृंगार के अपूर्वकवि हैं। नवद्वीप की यही पुनीत प्रेम-धारा जो गीतों में बह रही थी मिथिला की अमराइयों में विरमती हुई व्रजभूमि में अपने प्राणवल्लभ के चरणरज को लेकर नवीन चेतना एवं प्राण से अनुप्राणित होती हुई राजस्थान की उस पगली प्रेम की पुजारिन के आँगन में उतरी।

परिचय

मनुष्य की अपेक्षा परमात्मा अनन्त गुणवाला है। उसकी लीला अनिर्वचनीय है। वह इस अद्भुत सृष्टि की नाट्यशाला का माया-जवनिकाच्छन्न नटनागर है। मनुष्य उसकी महिमा के अणुमात्र अंश को भी अपनी कल्पना शक्ति से नहीं समझ सकता। अतएव, तत्त्वदर्शी लोग परमात्मा की सत्ता मानते हुए, उसके स्वरूप की अज्ञेयता से उत्पन्न हुए आश्चर्य में निमग्न हो जाया करते हैं।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता, २, २९)

केशव ! कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये॥
(विनय पत्रिका)

गीता के श्लोक के भाव का सन्निवेश महात्मा तुलसीदास ने दो ही पंक्तियों में कैसी मधुरता से किया है! इन उद्गारों से भगवान की आश्चर्यमयी देवमाया के निरन्तर निदिध्यासन में निरत हो जाना यह वेदान्त का पक्ष है। यह पक्ष ज्ञानी को बहुत ही रुचिकर है। परन्तु परमात्मा की अमित महिमा को देखकर चकित न होते हुए उसके मधुर सौन्दर्य पर मुग्ध हो

जाना और उसके अज्ञेय स्वरूप को न सोचते हुए उसके प्रत्यक्ष प्रेम पर आत्मसमर्पण कर डालना यह एक दूसरा पक्ष है जो परमसुख की प्राप्ति का सरल साधन है पहला पक्ष ज्ञान-मार्ग का और दूसरा भक्ति-मार्ग का है। यद्यपि दोनों मार्गों में कोई तात्त्विक विरोध है नहीं, तथापि मानव-हृदय इन दोनों में प्रायः एक ही ओर झुकता है। इनमें जिस पथ का पथिक जो कोई बन गया वह अपने जीवन के निर्दिष्ट लक्ष्य तक अवश्य पहुँच जाता है—

'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।'

भक्ति और ज्ञान के परस्पर विरोधी अंश को छोड़कर दोनों ही को अपने हृदय में अवकाश देना यह तो परमात्माभिमुख हृदय की उच्च में उच्च अवस्था है। परन्तु मनुष्य के हृदय में भक्ति और ज्ञान दोनों में एक का प्राधान्य हो जाना स्वाभाविक है। दोनों ही मार्गों को मानते हुए प्रत्येक मार्ग में मन्द और शिथिल रहने की अपेक्षा एक ही मार्ग पर आरूढ़ हो जाने से परमात्मा के स्वरूप का अनुभव भली प्रकार हो सकता है।

ऐसे ही एकदेशीय किन्तु अत्यन्त तीव्र और उत्कृष्ट साधन के अभ्यास से उत्पन्न हुए अनुभव का निम्नलिखित पद्य में सन्निवेश है, जिसमें 'आत्मसमर्पण' का भाव कूट-कूट कर भरा है—

मेरे तो राम नाम दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

माता छोड़ी पिता छोड़े, छोड़े सगा सोई;
सन्तन संग बैठि बैठि लोक लाज खोई ॥
सन्त देखि दौड़ आई, जगत् देखि रोई;
प्रेम आँसू डार डार अमर-बेल बोई ॥
मारग में तारण मिले, सन्त राम दोई;
सन्त सदा शीश ऊपर, राम हृदय होई ॥
अन्त में से तन्त काढ्यो, पीछे रही सोई;
राणा भेल्या विष का प्याला, पीने मस्त होई ॥
अब तो बात फैल गई, जाने सब कोई;
दास मीरा लाल गिरधर, होनी हो सो होई ॥

यह पद्य मेवाड़ की सुप्रसिद्ध भक्ति-विह्वला मीराबाई का है। उस साध्वी का स्वाभाविक अबलापन, उसकी परमात्म-प्रेमजन्य विवशता में, और उसका मेवाड़-उचित पौरुष, प्रेम में विघ्नभूत संसार-श्रृंखला को कच्चे धागे की नाईं विच्छिन्न कर डालने में स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अबलापन और पौरुष—उत्कट प्रेम और वैराग्य—इन दोनों का यथार्थ चित्र इन सुन्दर पंक्तियों में उत्तम रीति से अंकित किया हुआ है। जिस हृदय में इस रस की तरल तरंगे कभी कभी उठती होंगी, उसे तो इस सुचारु संगीत से कुछ अनिर्वाच्य आनन्द मिलेगा। परन्तु, जो इस भाव से नितान्त अनभिज्ञ है, जिसने इस रस का कदापि आस्वादन नहीं किया, उसे इस भावमयी कविता की मार्मिकता और उत्कृष्टता विशद करके बताना निष्प्रयोजन होगा। तथापि,

इस वैराग्य और प्रेम के विलक्षण भाव में किलोल करती हुई रस-लहरियों के पृथक् पृथक् अवलोकन करने का यत्न अनुचित न समझा जायगा।

वैराग्य और दया

परमात्म-प्राप्ति के लिये सबसे पहला और आवश्यक साधन वैराग्य है। जगत् के व्यवहार की ओर कुछ अरुचि उत्पन्न हुए बिना मनुष्य परमात्माभिमुख नहीं हो सकता। यद्यपि परिणाम में ज्ञानी को जगत् में ही परमात्म-दर्शन होता है तथापि आरम्भ में जगत् पर जगत् रूप से त्याज्य-बुद्धि होना आवश्यक है। मायिक जगत् से अपनी ममता हटाकर, और परमात्मा की ओर प्रेम-प्रवण होकर ही मनुष्य कृतकृत्य होता है। जब तक मनुष्य की आत्मा की महत्ता को ममता की शृंखलाओं ने नियन्त्रित कर रखा है तबतक वह आत्मा की स्वाभाविक विशालता का अनुभव नहीं कर सकता। इस प्रकार का अनुभव तो उसे तभी होता है जब वह यह समझ लेता है कि मैं यह देह नहीं, और माता-पिता भी मेरे नहीं। अनन्त-काल-महोदधि में जीवन के पाँच, पचास या सौ वर्ष तो एक एक क्षण-बिन्दु मात्र ही हैं। इतने परिमित काल तक प्रतीयमान वस्तुओं में, जो अनाद्यनन्त है उस आत्मा को कैसे सुख मिल सकता है। ऐसे महान् पदार्थ ही होना चाहिये, और वह पदार्थ परमात्मा के बिना और कुछ नहीं। वही जीव का सच्चा आश्रय और परम लक्ष्य है। "रसो

वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"—यही रस है और इस रस को पाकर जीव सन्तुष्ट होता है। अतएव, भक्त जन बार बार यह कहते हैं कि परमात्मा ही हमारा घर है—"God is our home."

"परा हि मे विमन्यवो पतन्ति वस्य इष्टये वयो न वसतीरूप" ऋग्वेद

जैसे पक्षी अपने घोंसले की ओर लौटते हैं वैसे ही, उतने ही आनन्द और उल्लास से, मेरी मनोवृत्तियाँ परमात्मा की ओर खिंचती हैं।

आत्मोन्नति की इस ऊँची अवस्था को प्राप्त कर मीरा कहती है—

"माता छोड़े, पिता छोड़े, छोड़े सगा सोई।
अब तो मेरा रामनाम दूसरा न कोई॥"

लोक-सुख-वाद के वर्तमान समय में इस तरह संसार छोड़ने की बात सुनकर कुछ लोग अप्रसन्न होंगे उनकी दृष्टि में जगत् में रहकर भी परमात्मचिन्तन हो सकता है। कर्तव्य कर्म तो सदा करना ही चाहिये, प्रवृत्ति में ही सच्ची निवृत्ति है, संन्यास का वास्तविक अर्थ त्याग नहीं, किन्तु कर्म-फल का त्याग है, इस शैली की युक्तियाँ प्रायः हम सुना करते हैं। यद्यपि इन युक्तियों में बहुत कुछ सत्य है तथापि मीराबाई के त्याग की अवहेलना करना सर्वथा अनुचित है। वस्तुतः ज्ञान के लिए वैराग्य परमावश्यक है। यद्यपि महापुरुष जगत् में विचरते हुए भी अरण्य सदृश एकान्तवास का अनुभव कर सकते हैं,

तथापि यह बात तो विरलों में ही देख पड़ती है। क्या जाने ऐसे महानुभाव पुरुष का जगत् में 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लेप रहना उसके असंख्य जन्मों के वैराग्यमय संस्कारों का ही परिणाम हो! मीरा का जीवन अनन्य भक्ति का आदरणीय दृष्टान्त है। इस मेवाड़-रमणी का त्याग जगत् के बड़े बड़े धर्म-धुरीण महात्माओं के त्याग के सदृश ही था। क्राइस्ट, बुद्ध, शङ्कर आदि महात्माओं ने जो प्रबल धार्मिक आन्दोलन चलाये थे उन्हें वे संसार में रहते हुए कभी न चला पाते। उनके त्यागमय जीवन से ही उनका दिग्विजय मनुष्य के हृदय पर स्थापित हो सका। धर्म-भावना में त्याग का कैसा माहात्म्य है इसे समझने के लिये सम्राट् अकबर के चलाये हुए 'दिव्य-धर्म' का दृष्टान्त बहुत ही शिक्षाप्रद है। उस धर्म में वैराग्य का बड़ा अभाव था जिस कारण वह निष्फल हुआ। सच तो यह है कि साधारणतया संसार के पामर जीव संसार में पुष्करपलाशवत् निर्लेप नहीं रह सकते। अतएव संसार-त्याग के उद्दाम दृष्टान्त के बिना उनका धर्म और ज्ञान की ओर प्रवृत्त होना असंभव है। मीरा का वैराग्य शुष्क संसार के झगड़ों से नहीं, बल्कि परमात्मा के प्रति अगाध प्रेम से ही उत्पन्न हुआ था।

जगत् से विरक्त होकर रहनेवाला मनुष्य जगत् को प्रायः कठोर दृष्टि से देखा करता है। परन्तु मीरा के वैराग्य में परमात्मा का प्रेम-रस भरपूर होने से कुछ मनोहर मृदुता थी, उसका हृदय अत्यन्त कोमल और करुणार्द्र था। वह जगत् के पारमार्थिक

दुःखों से दुःखित थी। वर्त्तमान समय के परोपकारी पुरुष जगत् के व्यावहारिक दुःखों से सहानुभूति करते हैं, किन्तु वे यह नहीं समझते कि संसार के पारमार्थिक दुःख तो अत्यन्त त्रासदायक हैं। सूक्ष्म होने के कारण वे स्थूल दृष्टि से प्रतीत नहीं होते। अतएव वे और भी भयङ्कर हैं। 'जो परमात्मप्रेम मेरा हृदय अनुभव कर रहा है वह समस्त जगत् क्यों न अनुभव करे,' इस प्रकार की प्रगाढ़ उत्कण्ठा प्रत्येक परोपकार परायण हृदय में हुए बिना नहीं रहती। इसलिये ऐसी ही प्रबल उत्कण्ठा से प्रेरित होकर मीरा—

"जगत् देखि रोई"

ऐसा दयार्द्र हृदय विरले ही महात्माओं में होता है। बुद्ध में था, क्राइस्ट में था, मीरा में था। क्राइस्ट और बुद्ध ने दया से ही प्रेरित हो जगत् के उद्धार करने का मार्ग रचा था। मेवाड़ की यह अबला महिला यह सब कुछ तो न कर सकी किन्तु केवल भक्ति और दया के दिव्य दृष्टान्त रूप में प्रकट होकर उसने अपनी मधुर मूर्त्ति भारत के हृदय में सदा के लिये स्थापित कर दी। क्या यह बात कुछ साधारण है? मीरा के सदृश परमात्म-प्रेम की सरस मूर्त्ति जगत् में मिलना बहुत ही कठिन है। अतः इसके दृष्टान्त मात्र से ही हमारा कल्याण हो सकता है।

प्रसङ्गवशात् लौकिक नियमों के माननेवाले पुरुष यह आक्षेप करेंगे कि जिस स्त्री ने पति-सेवा न की उसके दृष्टान्त से जगत् की रीति-नीति और मर्यादा टूट जायगी। इस आक्षेप का उत्तर

यही है कि सच्चे परमात्म-प्रेम के आवेग में पति की उपेक्षा करना भी क्षन्तव्य है। क्या किसी अलौकिक प्रतिभाशाली कवि की कृति में काव्य के छोटे-मोटे नियमों का उल्लङ्घन होते हुए भी साधारण मनुष्य को दोषोद्भावना करने का अधिकार है? क्या किसी महापराक्रमी पुरुष को प्राकृत नियमों में बाँधा जा सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार-महात्माओं के साधारण नियम-भङ्ग करने में कोई दोष नहीं होता—"समरथ को नहिं दोष गुसाई"। इस दृष्टि से देखते हुए मीरा ने जो साहस किया वह दोष रूप नहीं, किन्तु उसकी कीर्ति को अमर करनेवाला तथा जगत् को उन्नत भावना की ओर आकृष्ट करने वाला एक उच्च पराक्रम है।

भक्ति, ज्ञान, अमृतत्व

परमात्म-प्रेम के अनेकानेक स्वरूप हो सकते हैं। प्रभु की मधुर मूर्त्ति का कोई पितारूप से, कोई मातारूप से, कोई बालकरूप से, कोई प्रियारूप से, तो कोई पतिरूप से भजन करते हैं, अर्थात् उससे किसी प्रकार के प्रेम का नाता जोड़ भक्त-जन तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि यह प्रेम लौकिक-प्रेम के अनुरूप होता है तथापि लौकिक-प्रेम से परमात्मा-प्रेम में कुछ विलक्षण विभिन्नता होती है। इसका कारण परमात्मा की परता—अर्थात् उसका हरएक प्रकार के लौकिक भाव से अतीत होना—है। परन्तु मनुष्य उस 'परता' अर्थात् विदूरता को सहन नहीं कर सकता। अतएव मनुष्य अपने हृदय में प्रिय

से प्रिय वस्तु का रूपक लेकर परमात्मा की आराधना करता है। इस विधि की आराधना से यह न समझना चाहिये कि हम उस परमतत्व को, जिसकी कोई प्रतिमा नहीं—"न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः" किसी तरह की संकीर्ण दृष्टि से देखते हैं अथवा उसे स्थूल स्वरूप दे देते हैं, किन्तु हम उस चैतन्यघन-तत्व को हृदय में प्रेम का ऊँचे से ऊँचा आसन देकर उसकी आराधना करते हैं। गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति प्रेम अनन्यता का अनुपम दृष्टान्त है। * 'भक्तिः-परम प्रेमरूपा'—यथा, व्रजगोपिकानाम्' इस प्रकार भक्ति का लक्षण बतलाकर इसकी विशद व्याख्या करते हुए देवर्षि नारद ने कहा है—"तदर्पिताखिला-

---

* "Hence the Soul's devotion to the Diety is pictured by Radha's self abondonment to her beloved Krishna, and all the hot blood of Oriental passion is encouraged to pour fourth one mighty flood of praise and prayer to the Infinite Creator, who waits with loving, out-stretched arms to receive the worshipper into his bosom, and to convey him safely to eternal rest across the seemingly shoreless Ocean of Existence. Yet I am persuaded that no indecent thought entered their minds when they wrote these burning words; and to those who would protest, as I have heard the protest made, against using the images of the lupunar in dealing with the most sacred mysteries of the soul, I can only answer:—'Wer den Dichter will verstehen, Muss in Dichters Lande gehen."

Dr. Grierson's *Introduction* to the Satsaiya of Biharilal.

चारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति" अर्थात् परमात्मा के लिए अखिल कर्मों का अर्पण करना और उसकी क्षणमात्र विस्मृति में अत्यन्त व्याकुलता अनुभव करना इस अवस्था का नाम प्रेम या भक्ति है। इस अलौकिक प्रेम के उन्मेष में मीरा गद्गद कण्ठ से बोल उठती है—

"प्रेम-आँसू डार डार अमर वेलि बोई।"

"मैंने तो प्रेम के आँसुओं से सिंचन कर अमर वेल लगाई है।" वह अमर वेल तो अमृतत्व ही है, जिसके विषय में, भक्ति-मूर्त्ति मीरा की नाईं, ज्ञान-मूर्त्ति मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा था—"येनाहं नामृता स्यां तेन किं कुर्याम्—अमृतत्वस्य वित्तेन नाऽशाऽस्ति।" मुझे तो अमृतत्व चाहिये, वित्त से अमृतत्व की आशा नहीं, इसलिए वित्त लेकर मैं क्या करूँगी? प्रेम, परमात्म प्रेम यही अमृतत्व का साधन है, क्योंकि इस प्रेम में ही आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है, और स्वरूप-साक्षात्कार ही अमृतत्व है। अमृतत्व किसी स्वर्ग में या अन्य किसी स्थान में मिल सकनेवाली वस्तु नहीं, और न इसका यह अर्थ है कि यह भौतिक देह नित्य निरन्तर स्थायी बन सकता है, या अमुक समय से जरा-मृत्यु के बन्धन से मनुष्य छूट सकता है। अमृतत्व यह आत्मा का नित्यसिद्ध स्वभाव है जिसका अनुभव करना ही अमृतत्व है। यह दशा ज्ञानसाध्य है, क्रिया-साध्य नहीं। आत्मा के साक्षात्कार होने ही का नाम 'अमृतत्व' है। आत्मा का अमरत्व सिद्ध करने का यत्न अनेक विद्वानों ने किया

है। कितने ही यह कहते हैं कि जड़ का विनाश-धर्म चेतन में घट नहीं सकता। कितने यह कहते हैं कि पाप-पुण्य की नीति-व्यवस्था अपने प्रतिफल के बिना संभव नहीं और उस प्रतिफल की संभावना आत्मा के अमर हुए बिना नहीं हो सकती। कितने ही विद्वानों की यह धारणा है कि नीति की भावना कदापि पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं की जा सकती, इसलिए आत्मा की नैतिक अभिवृद्धि के लिए अनन्त-काल का अवकाश चाहिये। कुछ तत्वज्ञों का यह कहना है कि आत्मा तो नित्य प्रमाता है और इसका अभाव मानने पर जगत् ही शून्य हो जाता है। आत्मा का अमरत्व प्रतिपादन करने वाली इन सब युक्तियों की सविस्तार चर्चा करने का यहाँ अवकाश नहीं है। इसलिये इतना ही ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि आत्मा का अमरत्व देश-काल परिच्छिन्न होने के कारण आत्मा का अमरत्व उसके लिये तृप्तिकर होने के बदले केवल क्लेश-जनक ही होगा। कोटि वर्ष पर्यन्त,यहाँ या सर्वोत्तम स्वर्ग भूमि में रहकर भी क्या करना है ? विषयता के प्रदेश से आत्मा का गवसन हो जाना ही उसकी सच्ची अमर दशा है। इस आत्मा का या प्रमाता का अमरत्व भी विषयता के प्रदेश से अतीत है—इसलिये यह अमृतत्व क्रिया साध्य नहीं किन्तु ज्ञान-साध्य है।

पूर्वोक्त प्रकार का ज्ञान किस विधि से प्राप्त हो सकता है ? हमारी तर्क बुद्धि तो—आत्मा अमर है—इस विचार से अधिक दूर पहुँच नहीं सकती। तो फिर आत्मा के अमर-भाव का

साक्षात् अनुभव किस रीति से हो सकता है? ज्ञान से अथवा भक्ति से? प्रेम-लक्षणा भक्ति ही ज्ञान है, और अपरोक्ष ज्ञान ही भक्ति है इस सिद्धान्त पर यद्यपि कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती, तथापि भक्ति और ज्ञानकी एकता किस प्रकारकी है इसपर कुछ विचार करना चाहिये। भक्ति के दो मुख्य और आवश्यक अङ्ग हैं—प्रेम और श्रद्धा के द्वारा भय, शंका आदि दोषों से आत्मा मुक्त हो जाता है। प्रेम से उसमें चैतन्य का विकास होकर आनन्द का भान होता है। ज्ञान के द्वारा भी यही वस्तु प्राप्त की जाती है और उसकी प्राप्ति के लिये भी श्रद्धा और प्रेम जुदे ढंग से आवश्यक होते हैं, क्योंकि उनके विना ज्ञान अस्थिर, शिथिल, शुष्क और परोक्ष रह जाता है। ज्ञान और भक्ति का समन्वय मानते हुए यह शंका उत्पन्न होती है कि भक्ति द्वैत के विना हो ही नहीं सकती, क्योंकि जब मनुष्य को परमात्मा पर भरोसा और प्रेम करना आवश्यक है तब उसे अपने से भिन्न पदार्थ अथवा द्वैत को स्वीकार करना ही पड़ता है। परन्तु वस्तुतः भक्ति ही द्वैत के अपलाप का सच्चा साधन है। परमात्मा के प्रेम में संलग्न प्रेमी अपनी अहन्ता ममता से मुक्त हो जाता है और यही मुक्ति अद्वैतवाद का भी परम लक्ष्य है। ज्ञान के द्वारा भी यही दशा प्राप्त की जाती है। वस्तुतः, आत्मा को अहन्ता ममता का बन्धन नहीं' इसका तात्पर्य यही है कि अहन्ता ममता से रहित आत्मस्थिति प्राप्त करना चाहिये। अद्वैत वेदान्त के अनुसार इस अहन्ता ममता से रहित आत्मा

ही ब्रह्म है। यदि यह बात ध्यान में रखें तो यह स्पष्ट समझ में आता है कि भक्ति और ज्ञान के उभय पक्षों में परमात्मा का समान रीति से अन्तर्भाव है, अर्थात् उभय साधनों द्वारा एक ही गति प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, किन्तु दोनों पक्षों में धार्मिकता का भाव भी समान है। तात्पर्य यह कि एक ही तत्त्व पर भक्ति और ज्ञान का लक्ष्य होते हुए भी एक को यदि तत्त्व-ज्ञान (Philosophy) और दूसरे को (Religion) धर्म कहा जाय तो यह भी अनुचित है। ज्ञान और भक्ति दोनों ही धर्म हैं और एक ही पदार्थ के विभिन्न स्वरूप हैं।

इस प्रकार के प्रेम से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि प्रेम होते ही जब 'मैं' ऐसी वस्तु ही नहीं रहती तब कौन जरा और मृत्यु के पाश में बँधा हुआ कहा जा सकता है ? जिन्होंने अपनी अहमाकारवृत्ति परमात्मा को अर्पित कर दी है, अर्थात् जैसे नदियाँ नाम रूप तजकर समुद्र में लीन हो जाती हैं वैसे जिसने अपनी प्रेममयी अहंमूर्ति ब्रह्मरूप प्रेमसागर में लीन कर दी है, उसकी दृष्टि में ब्रह्म से जुदा 'मैं' कहने लायक कोई पदार्थ ही अवशिष्ट नहीं रहता और ऐसी स्थिति में यदि ब्रह्म का नाश सम्भव हो तो यह अपना भी नाश होना मान सकता है।

जब मैं था तब गुरु नहीं, जब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥ कबीर
प्रीतम छवि नैननि बसी, औ छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय॥

यदि ब्रह्म अपने से भिन्न हो तो किसी काल में अपने नाश होने की आशङ्का हो सकती है, किन्तु जब अपना आत्मत्व ही ब्रह्म में है तो फिर अपना विनाश कैसे सम्भव हो सकता है। अद्वैत-वेदान्त में इसी रीति से आत्मा के अमृतत्व के अनुभव करने की प्रक्रिया है। इस विचार शृंखला से इतना स्पष्ट हुआ कि जो भक्ति को मन्दाधिकारी के लिये उपयुक्त मानते हैं और जो परमात्मा के ज्ञान के बदले (अहङ्कारास्पद) आत्मा के ज्ञान सम्पादन करने में ही सिद्धि मानते हैं वे वेदान्त-सिद्धान्त को भलीभाँति नहीं समझे।

साधु संगत

परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधु-सङ्ग का कितना माहात्म्य है इस पर अब कुछ विचार करना चाहिये। मीरा ने ठीक ही कहा है—

'मारग में तारण मिले, सन्त राम दोई।
सन्त सदा शीश ऊपर, राम हृदय होई॥'

इस संसार-सागर से तारण करनेवाले दो ही पदार्थ हैं— एक 'सन्त' और दूसरा 'राम'। उनमें सन्त का स्थान 'शीश ऊपर' और राम का 'हृदय' में है। सन्त केवल परोक्ष रीति से मार्ग बता कर दूर रहते हैं, वे अपने सहवास से जितना असर हो सकता है उतना करते हैं, किन्तु परमात्मा का अपरोक्ष अनुभव करना यह अन्तिम काम हृदय का है। सन्त का मान करना चाहिये और राम हृदय में विराजने चाहिये। गुरु का

प्रयोजन मार्ग-प्रदर्शन मात्र है और वह जितनी सरलता से उस मार्ग का अनुभव करा सकता है उतना ही वह आदरणीय है—शिरोधार्य है। किन्तु जिस लक्ष्य तक पहुँचना है उसको भूलकर उस लक्ष्य के बतलानेवाले गुरु के ही समाराधन में लग जाना एक अत्यन्त शोचनीय भूल है। निःसन्देह साधु-संग बड़ा श्रेयस्कर है। साधुता परमात्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप है। सचमुच, इसके सपर्क से आत्मा सहज ही में निर्मल हो जाता है।

अमुक व्यक्ति संत है या नहीं इसकी समीक्षा हमें आँख खोल कर करनी चाहिए। सद्गुरु का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं उसी पथ का हमारा सहचर पथिक बने और उस विकट मार्ग की जो जो कठिनाइयाँ हों उन्हें समय और अधिकार देख कर हमें बतलावे।

सन्त के समागम से, मनुष्य की घोर से घोर पशु-वृत्ति शान्त हो जाती है और उसके सच्चे मनुष्यत्व का विकास होने लगता है। शास्त्रों में सत्संग की बड़ी महिमा गाई गई है—

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेव च॥

भागवत, ११-२६

प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसंगविवर्जिताः।
संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते॥

भागवत, कपिल—देवहूति संवाद

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

मीराबाई का जीवन आत्मसमर्पण का ज्वलन्त उदाहरण था। उसने प्रेम की अश्रु-धारा से अमर बेलि का सिंचन किया था, और सत्संग में काल व्यतीत कर लोकापवाद की तनिक भी परवा न की थी। किसी भी ओजस्वी आदर्श के लिये आत्मसमर्पण करते हुए मनुष्य को लोक-लाज बहुत ही सताती है, इसके कारण उसकी महत्वाकांक्षाएँ मन की मन ही में विलीन होजाया करती हैं। लोग क्या कहेंगे इस आशंका से पीड़ित होकर बहुत से विवेक सम्पन्न पुरुष भी अपने ध्येय को अपने ध्यान से तिरोधान कर देते हैं। किन्तु भारत की वीर कन्या मीरा ने तो—

'सन्तन सङ्ग बैठि बैठि लोक लाज खोई।'

ऐसा ही गोपिकाओं ने भी किया था:—

किती न गोकुल कुलवधू, काहि न केहि सिख दीन।
कौने तजी न कुलगली, है मुरली सुर लीन ॥ बिहारी

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

भागवते उद्धवोक्तिः

हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी } आनंदशंकर, बापूभाई ध्रुव

प्रस्तावना

भक्ति में श्रद्धा और प्रेम दोनों का योग रहता है। दोनों की मात्रा के भेद से भक्ति के कई स्वरूप हो जाते हैं। ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध को विशेष रूप से लेकर जहाँ भावना चलती है वहाँ श्रद्धा का अवयव अधिक रहता है। जहाँ भक्त केवल अपना और भगवान् का सम्बन्ध ले कर चलता है वहाँ प्रेम का अवयव प्रधान हो जाता है। जहाँ दोनों अवयव समान हों वहाँ भक्ति की साम्यावस्था समझनी चाहिए।

भारतवर्ष में जो वैष्णव भक्तिमार्ग चला आ रहा है उसमें भावों की अत्यन्त विशद और मार्मिक व्यंजना रामभक्ति और कृष्णभक्ति के क्षेत्रों में हुई। इन दोनों क्षेत्रों की भक्ति के स्वरूप में भेद स्पष्ट लक्षित होता है। रामभक्ति के क्षेत्र में भगवान् और जगत् की सम्बन्ध-भावना बराबर ऊपर रही इससे वहाँ शील, शक्ति और सौन्दर्य्य—इन तीनों विभूतियों से समन्वित भगवान् का लोकरक्षक और लोकरंजक रूप सामने रहा। इस प्रकार वहाँ श्रद्धा और प्रेम का साम्य रहा। पर श्रीमद्भागवत के पीछे श्रीकृष्ण का लोकसंग्रही रूप क्रमशः हटता गया और वे कर्मक्षेत्र से अलग होकर प्रेम के मधुर आलंबन मात्र रह गये। आगे चलकर मुसलमानी ज़माने में वल्लभाचार्य्यजी ने स्पष्ट शब्दों में उनका लोकसंग्रही रूप हटाया। उन्होंने लोक और वेद दोनों की मर्य्यादा का अतिक्रमण अपने सम्प्रदाय में आवश्यक ठहराया। इस प्रकार कृष्णभक्ति के क्षेत्र में श्रद्धा का अवयव दबता गया और प्रेमतत्त्व की प्रधानता होती गई। लोक को परे फेंकने से कृष्णभक्ति व्यक्तिगत एकान्त प्रेम-साधना के रूप में आ गई। भक्तजन केवल अपना और भगवान् का सम्बन्ध लेकर चलने लगे। इस प्रकार कृष्णभक्ति के क्षेत्र में रहस्य-भावना की गुंजाइश हुई।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का जो स्फुरण हुआ वह जब से क्रमशः प्रधानता प्राप्त करने लगा तभी से कृष्णभक्ति की साधना कुछ-कुछ व्यक्तिगत प्रेम-सम्बन्ध-निर्वाह के रूप में आने लगी थी। यह बात दक्षिण में विशेष रूप से घटित हुई। वहाँ कई एक भक्तिनें ऐसी हुईं जिन्होंने श्रीकृष्ण को एकान्त भाव से पति मानकर भक्ति की साधना की थी। दक्षिण के मंदिरों में देवदासियाँ रखने की जो प्रथा थी उसके

इस 'माधुर्य्य भाव' की उपासना को और भी सहारा मिला। कुछ लोग अपनी कुमारी-कन्याओं को मंदिर में चढ़ा आते थे, जहाँ उनका विवाह देवता के साथ हो जाता था। ये ही देवदासियाँ कहलाती थीं। इन देवदासियों के लिए उस देवता की भक्ति पति-रूप में ही विधेय थी। इनमें 'अंडाल' सबसे प्रसिद्ध भक्तिन हो गई हैं। वे कृष्ण को ही अपना पति कहती थीं और उन्हीं के प्रेम में मग्न रहती थीं। 'अंडाल' का जन्म विक्रम संवत् ७७० के लगभग हुआ था।

सूफ़ियों की भक्ति-साधना भी ऐकान्तिक और माधुर्य्य-भाव पूर्ण थी। इससे मुसलमानी ज़माने में कुछ कृष्णभक्तों पर सूफ़ियों का भी पूरा असर दिखाई पड़ता है। चैतन्य महाप्रभु में सूफ़ियों की अनेक प्रवृत्तियाँ साफ़ दिखाई पड़ती हैं। जिस प्रकार सूफ़ी क़ौवाल गाते-गाते, बेहोश या 'हाल' की दशा में हो जाते हैं उसी प्रकार महाप्रभुजी की मंडली भी नाचते-नाचते मूर्च्छित हो जाती थी। यह मूर्च्छा रहस्योन्मुख भक्ति का प्रधान लक्षण है। उत्तर भारत के प्रसिद्ध कृष्णभक्तों में मीराबाई और नागरीदास की भक्ति 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत आती है। मीराबाई 'लोक-लाज खोकर' अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थीं। नागरीदास की भक्ति तो साफ़ सूफ़ी ढाँचे में ढली हुई थी। उसमें तो यार, महबूब के साथ मद, प्याला, मूर्च्छा, उन्माद—सूफ़ियों के सारे सामान मौजूद हैं।

कबीर ने भी 'राम की बहुरिया' बनकर अपने प्रेमभाव की व्यंजना की है, पर 'माधुर्य्य भाव' की जैसी व्यंजना स्त्री भक्तों-द्वारा हुई है वैसी पुरुष भक्तों द्वारा न हुई है, न हो सकती है। पुरुषों के मुख से यह अभि-

नय के रूप में प्रतीत होती है। उसमें वैसा स्वाभाविक भोलापन, वैसी मार्मिकता और कोमलता आ नहीं सकती। पति-प्रेम के रूप में ढले हुए भक्तिरस ने मीरा की संगीत-धारा में जो दिव्य माधुर्य्य घोला है वह चटोरे हृदयों को और कहीं शायद ही मिले।

उस दिव्य माधुर्य्य का, उस अलौकिक मिठास का, जो अनुभव पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' को हुआ है, उसीको बताने का प्रयत्न इस छोटी-सी पुस्तक में उन्होंने किया है और, मैं समझता हूँ, वे बहुत कुछ बता भी सके हैं। उस मिठास के अनुभव के लिए जिस ढाँचे की भावुकता चाहिए उस ढाँचे का भावुकता उनमें है। माधुर्य्य भाव से प्रेरित मनोवृत्तियों की बड़ी अच्छी परख का परिचय उन्होंने दिया है। उनकी भावुकता की पद्धति के अनुरूप ही उनकी भाषा भी कहीं हाव-पूर्ण, कहीं मदाकुल और कहीं रहस्यमयी है। पुस्तक के आरम्भ में भक्ति और प्रेम का व्यापक दृष्टि से कुछ ऐतिहासिक तथा आध्यात्मिक कहा जानेवाला विवेचन भी है। इस पुस्तक को देखकर आशा होती है कि मीरा के ढब के कुछ और भक्तों का भाव-सौन्दर्य्य भी 'माधव' जी इसी प्रकार प्रदर्शित करेंगे।

दुर्गाकुण्ड, काशी
२९-१२-१९३२

रामचन्द्र शुक्ल

सूची

मीरा की प्रेम-साधना

विषय-प्रवेश

नित्य, निरंजन, निर्विकल्प, अव्यक्त ब्रह्म की भावना मनुष्य ने व्यक्त, सगुण ईश्वर के रूप में की परन्तु उसका जी न भरा, हृदय न जुड़ाया। वैदिक युग में विष्णु, रुद्र, अग्नि, वरुणादि देवताओं की उपासना में केवल 'भय' ही प्रेरक-शक्ति का काम कर रहा था और भगवान् के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य-गुणों में केवल शक्ति की ही स्वीकृति मानव-हृदय ने की थी। भगवान् और मनुष्य के बीच यह भय-मूलक संबंध कै दिन चल सकता ? पग-पग पर हम डर रहे थे कि कहीं हमने भूल की कि उधर से प्रतिकार का खड्ग चला। इन्द्र द्वेष की साक्षात् मूर्ति थे। इसी प्रकार प्रायः सभी देवताओं की उपासना इसलिए होती थी कि कहीं वे असंतुष्ट होकर महा अनिष्ट न कर बैठें। इस भावना में हृदय की कोमल वृत्तियों को आलंबन मिलना तो सर्वथा असंभव

ही था। जो वस्तु शुद्ध स्नेह का पात्र नहीं वह उपासना के लिए कैसे ली जा सकती? जो ईश्वर हमारे पिता, माता, स्वामी, सखा, पुत्र तथा भर्त्ता के रूप में न हुआ वह हमारे हृदय के सिंहासन पर कैसे बैठ पाता?

ज्ञानाधिकरण उपनिषदों ने भी ब्रह्म और आत्मा की एकता स्थापित करते हुए उपासना के लिये कुछ व्यक्त प्रतीकों को ग्रहण किया। अन्न-मय, प्राणमय, विज्ञान-मय, एवं आनन्द-मय कोष में होती हुई आत्मा ब्रह्मानंद की परम भावना में लीन हो जाती है। रूप, रस, गंध, स्पर्शादि से परे रहता हुआ भी 'वह' इनमें ओत-प्रोत है। यही नहीं है, इसमें भी है—यही भावना उपनिषदों की है। ज्ञान की यही चरम सीमा है जहाँ अनुभूति अपनी पराकाष्टा पर आ जाती है और संवेदन की तीव्रता में वाणी भी मौन हो जाती है, हृदय स्तब्ध हो जाता है। ज्ञान का यह पथ जन-साधारण के लिए एक प्रकार बन्द सा ही था। साधना का साधारणीकरण होता चला, उपासना का सुगम एवं सर्वगम्य पथ खोजा जाने लगा जहाँ हमारी वृत्तियों के प्रश्रय एवं प्रसार का भी समुचित अवसर मिल सके, साथ ही साथ हमारे आध्यात्मिक विकास का भी। ईश्वर को पकड़ने का हमारा यह प्रयास कितना सात्विक, कितना निश्छल था! उत्तर काल के नारायणोपनिषद् कृष्णोपनिषद्, रामतापनी उपनिषद् आदि ग्रंथों में तो व्यक्त उपासना की ही विशेष पुष्टि हुई, परंतु शुद्ध ज्ञान-मार्ग के भीतर वासुदेव, नारायण, कृष्ण भी हमारे देवकी-पुत्र, राधिका-वल्लभ, गोपी-जीवन न होकर ब्रह्म के ही व्यक्त रूप में ग्रहण किए गये और अंत में ब्रह्म में ही उनका लय हो गया।

बौद्ध-धर्म की भावना ज्ञान-वैराग्य-प्रधान तथा निवृत्ति-मूलक होने के कारण उपासना का पौधा उसमें पनप न सका। इसके अभाव में धीरे-धीरे उसके अनुयायी वैराग्य के मार्ग से भी च्युत हो चले। स्वामी शंकराचार्यजी ने ज्ञान की घूँटी फिर एक बार पिलाई। साधना की परम सीमा ब्रह्मात्मैक्य स्वीकार करते हुए तथा तत्त्वतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किंचन' को ज्ञान का परम साध्य मानते हुए भी स्वामी शंकराचार्य ने शिव, विष्णु, वासुदेव की परब्रह्म-रूप में उपासना स्वीकार की, जैसा उनके रचे हुए स्तोत्रों से प्रकट होता है।

स्वामी रामानुज का द्वैत भी अद्वैतोन्मुखी था। उसमें भी ब्रह्मवाद की अंतिम लहरों की हलचल स्पष्टतः परिलक्षित हो रही थी। इस विशिष्टाद्वैत में मानव-हृदय की साधना-वृत्ति को कुछ सहारा तो अवश्य मिला और भगवान् के साथ हम दृढ़ता-पूर्वक बँध तो अवश्य गये, परन्तु जनता की वृत्तियाँ प्यासी ही रह गईं। हृदय की भूख तो कुछ अवश्य मिटी परन्तु प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही। भक्ति ज्ञान में लीन हो जानेवाली ही कही गई, साधन-मात्र ही समझी गई, स्वयं भक्ति ही अपना लक्ष्य अथवा साध्य न हुई।

विष्णु के दो रूप माने गये—राम और कृष्ण। रामानुज के शिष्य स्वामी रामानंदजी ने श्रीसीताराम की उपासना निरूपित कर महामंत्र 'रामनाम' को प्रतिष्ठापित किया। इन्हीं की शिष्य-परंपरा में कबीर, रैदास, पीपा आदि हुए। इन्हीं सन्त रैदास की शिष्या मीरा बाई हुईं जिन्होंने वल्लभ-संप्रदाय के प्रवाह में राम के स्थान में श्रीकृष्ण को ही अपना परमाराध्य देव माना। राम की उपासना में दास्य-भाव को ही परितुष्टि हो सकती है अतः

यहाँ सौंदर्य की अपेक्षा शील एवं शक्ति में ही हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। राम में हमने अपना इष्ट तो पा लिया, परंतु राम केवल प्रेम के ही पात्र न थे। उनकी शक्ति के सामने हम सिर नवाते थे। राम हमसे सटे हुए भी हमसे इतने ऊँचे हैं कि हमारा मस्तक उनके चरणों में श्रद्धा एवं भक्ति से झुक जाता है, केवल प्यार ही करें—ऐसा नहीं होता।

राम का 'रामत्व' रावण के 'रावणत्व' के विरोध में; शवरी, अहिल्या, गणिका, गिद्ध आदि के तारने में ; सुग्रीव, विभीषण, हनुमान आदि की स्नेह-मैत्री में तथा कैकेयी के प्रति श्रद्धा और स्नेह का भाव रखने में ही अधिक प्रफुल्लित हुआ है। जनकपुर की फुलवारी में 'भयेउ विलोचन चारु अचंचल' के चित्र को कितने झटके से हटा लिया गया है! वन जाते समय राम के रूप पर ग्राम-वधुओं के हृदय लुटाने का मनोरम दृश्य भी कितने संयम के साथ दवा दिया गया है। रूप-रस के प्यासे मानव-हृदय की रस-निष्पत्ति में कितना बड़ा झटका इन दृश्यों से लगता है! हम लुभाए से, टकटकी बाँधे राम के इस मधुर रूप की ओर देखने ही लगते हैं, उस परम छवि को आँखों के वातायन से हृदय के मंदिर में पूरी तरह ला भी नहीं पाते कि राम अपने कर्त्तव्य के कठोर पथ में चल देते हैं; उनका वह सुन्दर रूप हमारी ललचाई आँखों से ओझल हो जाता है, और हमारे 'कहो साँवरो सो सखि रावरो को हैं ?' का कोई उत्तर नहीं मिलता। हरि-दर्शन की प्यासी आँखें तड़फड़ा कर रह जाती हैं। लोक-मर्य्यादा, संयम एवं परित्राण की भावना ही राम में पूर्णतः प्रतिष्ठापित हुई है; पावन ही मंगल है, श्रेय ही प्रेय है, कर्त्तव्य ही प्रेम है—

यही राम के लोकोत्तर चरित की उद्भावना करने वाले भक्तों का आदर्श है। हम राम के सेवक तो हो जाते हैं, परंतु स्वामी का चरित्र इतना उन्नत, इतना पावन एवं उच्च है कि सखा होने के लिए हमारा हृदय प्रवृत्त ही नहीं हो पाता। जीवन का एक बहुत बड़ा अभाव, अभाव ही रह जाता है।

वास्तव में 'दूरत्व' का जो भाव हमारे भीतर घर किये हुए है उसको शुद्ध प्रवाह मिलना अनिवार्य्य था। सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव में दूरत्व का क्रमशः लोप हो जाता है; यहाँ तक कि परम भाव में तो 'दो का एक' तथा 'एक ही का दो' स्पष्टतः स्थापित हो जाता है। राम के अभाव की, इस प्रकार, कृष्ण ने पूरा किया। हृदय की सभी वृत्तियों के रमने का पूरा पूरा अवकाश एवं क्षेत्र कृष्ण में मिला। तुष्टि तथा अभिलाषा के सभी उपादान कृष्ण में विद्यमान हैं। शील और शक्ति की पराकाष्ठा दिखाते हुए भी सौंदर्य की ही ओर हमारा ध्यान विशेष खिंचा। यशोदा के आँगन में किलकारियाँ छोड़ते हुए, 'घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए'—रूप पर सहज ही हमारा हृदय निछावर हो गया। अवस्था बढ़ती है और अवस्था के साथ नटखटी भी। गोप-वृन्द को छेड़ते, गोचारण में सजल-श्यामल मेघों के पीछे दौड़ते, साथ के बालकों से दाँव लेते-देते, वंशी की तान पर स्वयं नाचते तथा औरों को नचाते हुए श्रीकृष्ण का वह मोहक रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है जो विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है।

वल्लभाचार्य्य, माध्व, निम्बार्क, तथा श्री चैतन्यदेव को इसी श्यामल, प्रौढ़ स्वरूप ने आकृष्ट किया—जिसकी प्रेम-दार्शनिकता

को जयदेव और विद्यापति ने गीत गा गा कर परम भाव की माधुर्य-रति को अंकित किया। श्री चैतन्यदेव ने प्रेम का जो स्रोत बहाया, जयदेव तथा विद्यापति ने अपने प्रेमोन्माद-पूर्ण सुललित गीतों में जिसे गया, वही दिव्य प्रेम-संगीत-धारा नवद्वीप से मिथिला की अमराइयों में होती हुई व्रज में अपने प्राण-वल्लभ की सुमधुर झाँकी से अनुप्राणित होकर राजस्थान में पहुँची। गीत-काव्य का यह प्रवाह सर्वथा निराला है। प्रेम और आनंद का यह उमड़ा हुआ स्रोत मीरा के हृदय में जा मिला। मीरा ने प्रेम के पंथ में सर्वात्म-समर्पण कर, श्री गिरिधारी लाल को अपना प्राण-वल्लभ, प्रियतम पति मान कर, अपने जीवन को, अपने जीवन की सभी आकांक्षा एवं अभिलाषा को श्रीकृष्णार्पण कर दिया। 'पिया की सेज' सूली के ऊपर होते हुए भी वह परम मिलन के आनंद-मधु को छक कर पी सकी!

परम भाव की इस परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेम-मयी मूर्त्ति को ही लेकर प्रेम-तत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है और इसी हेतु भगवान् श्रीकृष्ण का यह मोहक रूप मानव-हृदय को अनादि काल से आकृष्ट करता आया है। उस दिन परम वैष्णव साधु श्रीकृष्णप्रेम जो (Prof. Nixon) ने भी अपने जीवन को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वभावेन समर्पित करते हुए कविवर कीट्स (Keats) के शब्दों में कुछ परिवर्त्तन कर अपनी प्रेम-भावना की अनन्यता को बड़े ही सुंदर अथच मधुर शब्दों में व्यक्त किया है—

"Krishna is God, God Krishna, that is all
Ye know on earth and all ye need to know"

धीर समीरे, यमुना तीरे, कुंज कुटीरे वनमाली अपनी मुरली की टेर से सहस्र सहस्र गोपियों को आकृष्ट करते हैं। गोपियाँ जो जैसी हैं वैसी ही मुरली की जादूभरी ध्वनि सुन कर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए विह्वल होकर दौड़ती हैं। शरद् की चाँदनी छिटकी हुई है। और उस ज्योत्स्ना-प्लावित रात्रि में रास का समारोह होता है। बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है, चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक 'गोपी' के साथ कृष्ण। परम भाव का उत्कृष्ट, वस्तुतः मधु-मन्दिर मादक स्वरूप !!

हम भागते जा रहे हैं, 'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है। हम आवरण में रहना ही पसंद करते हैं, 'वह' हमें अनावृत कर छोड़ने पर ही तुला हुआ है। आखिर, उसके ही हठ की जीत होती है और अंत में 'वह' हमारे आवरण को हटाकर ही चैन लेता है। ठीक इसी भाव को परम भावुक, आत्मदर्शी अंग्रेज कवि (F. Thompson) टॉम्सन् ने अपनी सुविख्यात कविता 'स्वर्ग के अहेरी' (Hound of the Heaven) में व्यक्त किया है—'वह' हमारा पीछा करता आ रहा है—हम भागते जा रहे हैं, 'उस' के चरणों की चाप स्पष्ट सुनाई पड़ रही है—

'I fled Him down the nights
and down the days'

परंतु अंत में 'वह' हमें 'ग्रस' लेता है और बोल उठता है—

'Ah ! fondest, blindest, weakest
I am He whom thou seekest
Thou dravest low from thee who dravest Me.

जितना हम उसके लिए व्याकुल नहीं हैं उतना वह है हमारे

लिए। भय हमें यह है कि 'उसे' पाकर हमारा 'अहं' कहाँ रह सकेगा; हम अपने 'मैं' को कैसे बनाये रख सकेंगे? परंतु 'वह' तो हमारे हाथों में बन्दी बनने के लिए व्याकुल है। उसकी इस तीव्र उत्सुकता की कोई सीमा नहीं। जिसने उसे पाने की तनिक भी चेष्टा की, आतुर विह्वल हृदय से एक बार भी प्रेम-पूर्वक उसे पुकारा कि वह उसके हाथ में आ गया! हमारा उसका तो अनंत अविच्छिन्न मिलन हो रहा है। प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया में 'वह' और मेरा 'मैं' मिल रहे हैं। यह पृथ्वी, ये असंख्य नक्षत्र हमारे इस महामिलन के साक्षी हैं। अब हम 'उसे' जाने भी कैसे दें?

"I have caught Thee by my hand
I will not let Thee go"

हमारे इस महामिलन का माधुर्य्य विरह में अत्यधिक प्रस्फुटित एवं उच्छ्वसित हो उठता है। प्रतिपल विरह की उद्दीपना में हमारा हृदय अपने 'धन' के लिए आहें छोड़ता है, तूफ़ान में समुद्र की भाँति। आहों के उस सघन कुंज के भीतर प्रेम की मृगछौनी उल्लसित साधों पर चौकड़ी भरती रहती है। यह विरह ही प्रेम की संजीवनी है। रास की फाँस में गोपियों को डालकर, अपनी परम माधुरी का कुंकुम राधा के हृदय पर छिड़क कर नटनागर गोकुल छोड़कर चले गये। गोपियाँ तड़पती रह गईं, राधा कुहुँकती रह गई! वह 'निठुर' न लौटा—न लौटा! 'जोग' की आँधी लाकर उद्धव ने धुँधुआती विरह-ज्वाला को अत्यधिक उत्तेजित कर दिया! प्रेम की वंसी में गोपियों के हृदय को उलझाने की यह निष्ठुर क्रीड़ा! विरह की यह ज्वाला ही, वेदना का यह उद्दीप्त शृंगार ही भक्तों का प्राण है, जिसमें अहर्निश

जलते-तपते हुए भी वे इससे बाहर आना नहीं चाहते। दर्द-ये-दिल का यह अहवाल दुनियाँ क्या समझे, समझने ही क्यों जाय?

"हे री मैं तो दरद-दिवाणी,
मोरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की,
किस विध मिलणा होय!"



भागवत धर्म में श्रीकृष्ण

पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, और वायु से निर्मित इस पंच महाभूतात्मक स्थूल मानव शरीर में कोई ऐसी सूक्ष्म वस्तु है जो हमारे जीवन को विश्व के चिरन्तन जीवन-प्रवाह में मिलाने के लिए व्याकुल रहती है; विश्व के सार्वभौम जीवन में मिले विना यह स्वतः अपूर्ण अथच अर्थहीन है। जब तक हमारा स्वर विश्व-संगीत में लीन नहीं हो जाता तब तक हमारे स्वर में कोई लय नहीं, कोई ताल नहीं, कोई संकेत नहीं, कोई अर्थ नहीं। व्यष्टि के समष्टि में मिलने की परम उत्कण्ठा को भिन्न भिन्न धर्मों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। 'एक' में अनेक और अनेक में एक के तारतम्य को ही सभी धर्म संपादित करते हैं; कम से कम करना चाहते तो हैं अवश्य। सभी धर्मों ने स्वीकार किया है कि मनुष्य या सभी चेतन पदार्थ में, अचेतन जड़ तक में भी ब्रह्म

की परम ज्योति बिखरी पड़ी है और इस अनित्य नश्वर जगत् में वही 'एक' अनन्त एवं शाश्वत है। धर्म तथा जीवन की तह में प्रवेश कर हमारे ऋषियों ने यह अनुभव किया है कि समस्त अनित्यता की तरंग तथा बुद्बुद् के नीचे नित्य, अकल, अनीह, निरंजन ज्योति का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। यह निखिल ब्रह्माण्ड उस 'एक' का न परिणाम-स्वरूप है और न विकृति ही। यह उसकी लीला है। अस्तु—

ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुस्यां' की अमूर्त्त वासना से निखिल ब्रह्मांड का विराट् अभिनय प्रारंभ हुआ। विश्व का रंगमंच नाच उठा। 'वह' स्वयं उसी में व्याप्त हो रहा है, भीतर भी, बाहर भी। सूत्र में जिस प्रकार मणियों का हार पिरोया होता है उसी प्रकार 'वह' अखिल चराचर में होता हुआ, उसे बेधता हुआ, ओतप्रोत करता हुआ चला गया है। सभी कुछ उसी में तल्लीन है, ओतप्रोत है; दूध में घी तथा मिश्री में मिठास की भाँति। बीज में सारा वृक्ष मूल-रूप में, सार-भूत होकर सन्निहित है। 'वह' हममें घुलामिला, ओत-प्रोत है, फिर भी हमारा उसका साक्षात्कार नहीं होता। 'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई, को रे मिलाव कहौं केहि रोई'—ही हमारी सारी उत्सुकता, अभिलाषा तथा जिज्ञासा का मूल प्रेरक है। हम सतत् उसके स्पर्श में आने, उसमें लय होने के लिए व्याकुल हैं। हम अरुणांशुक-वसना उषा की मधुर रूप-श्री देखते हैं, हमारा हृदय आनंद से नाच उठता है, विभोर हो जाता है। मधुमास में मंजरी के भार से झुकी हुई अमराइयों, गदराई हुई लता-वल्लरियों के भीतर छिपकर कोकिला कल्याण का राग छेड़ जाती है, अपने दर्द-भरे घायल दिल को

उँड़ेल जाती है और हमारा हृदय किसी अज्ञात वेदना में कुहुँक उठता है। शरद ऋतु के किसी ज्योत्स्ना-स्नात निशीथ में अनन्त सागर एवं दूर तक फैले हुए विशाल सिकता-खण्ड पर छिटकी हुई चाँदनी, उद्वेलित लहरों की हलचल किसके हृदय में एक अतृप्त लालसा का उद्बोधन नहीं कराती? सजल सावन के सघन रिमझिम में पक्षियों को प्रफुल्ल क्रीड़ा करते, चहचहाते और फुदकते देख किसका हृदय आनंद से आप्लावित नहीं हो जाता? यह सब-कुछ हम देखते हैं और विस्मय से भर जाते हैं। हम इन चित्रों के पीछे छिपे हुए चित्रकार को देखना चाहते हैं, इस विराट् अभिनय के सूत्रधार को देखना चाहते हैं और चाहते हैं उस गायक को देखना जिसके इस अनन्त संगीत में अखिल विश्व डुबा जा रहा है। हमारी इस जागृत अभिलाषा, चिर अतृप्त आकांक्षा की पुनीत प्रेरणा द्वारा ही हमारे भीतर ईश्वर की खोज का आरंभ होता है।

प्रकृति के निरवगुण्ठित, आवरणहीन सौंदर्य के अविच्छिन्न साहचर्य्य में आकर हमारे आत्मदर्शी ऋषियों ने अपने अन्तस में उसके अतल स्पर्श का अनुभव किया और आनंद-विभोर हो यत्किञ्चित् अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। वैदिक युग में प्रकृति के इन्हीं व्यक्त प्रतीकों की उपासना भी होती थी। वरुण, इन्द्र, यम, अग्नि, विष्णु आदि की पूजा प्रचलित थी। रूपप् छन्दों के अतिरिक्त इन मंत्रों में देवता की शक्ति का ही विशेष वर्णन है। सौंदर्य की ओर जो ध्यान गया भी है वह भी लौट कर शक्ति में मिल गया है। ऋग्वेद में वरुण, सबसे श्रेष्ठ देवता माने गये हैं। वरुण जल के देवता हैं और उनकी शक्ति

भी अपरिमेय है । विष्णु छन्दों में बार-बार विष्णु के 'तीन मधु पूर्ण पदों से अखिल ब्रह्माण्ड को नापने' की कथा दुहराई गई है, परन्तु वहीं छठें पद की एक पंक्ति है—'भूरि शृङ्गाः अयासः गावः'* अर्थात् विष्णु का वह पावन-लोक जिसमें अनेक सींगवाली गायें चरती-फिरती हैं । विष्णु के साथ गोचारण, गोपालन तथा विष्णु-लोक में गौओं का घूमना-चरना देख अवश्य कुतूहल होता है क्योंकि यही विष्णु आगे चल कर हमारे गोपाल बन जाते हैं !

वैदिक युग में गोलोक-विहारी विष्णु की एक झलक लेकर हम आगे बढ़ते हैं और ब्राह्मण तथा उपनिषद् काल में प्रवेश करते हैं । आरंभ में ही यह प्रकट कर देना उचित होगा कि उपनिषदों में ज्ञान का ही विषय प्रधान है । उन्होंने ब्रह्मात्मैक्य का ही प्रतिपादन किया है । हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियों ने स्पष्ट कह दिया है कि ब्रह्म हमारी वाणी और मन की पहुँच से परे है; वह परब्रह्म पंचमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँच गुणों से रहित अनादि, अनन्त और अव्यय है । † परंतु ज्ञानाश्रयी उपनिषदों में भी अव्यक्त की व्यक्त उपासना की झलक कहीं कहीं मिलती है । तैत्तरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को यही उपदेश किया है कि अन्न ही ब्रह्म है

* ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै । यत्र गावो भूरि शृंगा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥
ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त १५४, छंद ६

† 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' । (तैत्ति० २, ९)
'अदृश्यं अग्राह्यं (मुं० १, १, ६)
'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' (मुं० ३, १, ८)

फिर क्रम से प्राण, मन, विज्ञान और आनंद इन ब्रह्म-रूपों का ज्ञान उसे करा दिया है। परन्तु अन्त में आते आते उत्तर-कालीन उपनिषदों में सच्चिदानंद की कल्पना श्रीकृष्ण के रूप में की गई है। 'गोपाल-तापनी उपनिषद्' में 'सच्चिदानन्द रूपाय कृष्णायाक्लिष्ट कारिणे' तथा अथर्व शीर्ष में 'गोविन्द सच्चिदानन्द-विग्रहं' पद आते हैं। 'ब्रह्म-संहिता' के पंचम अध्याय का प्रथम श्लोक है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण-कारणम्॥

सारांश यह कि वैदिक काल में धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप 'यज्ञ-मय कर्म प्रधान' होते हुए भी ब्रह्म की प्रतीक उपासना की आवश्यकता समझी जाने लगी थी और उपनिषद् काल में उस ब्रह्म सच्चिदानंद की मधुर कल्पना श्रीकृष्ण वासुदेव के ही रूप में होने लगी थी। वेद-संहिता तथा ब्राह्मणों में भी विशेषतः इसी यज्ञ-याग आदि कर्मप्रधान धर्म का प्रतिपादन किया गया। इसी की, आगे चलकर, तीन शाखाएँ हो गईं। उनमें पहली यज्ञ-याग आदि कर्म को प्रतिपादित करती रही, दूसरी ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा कर्म-सन्यास अथवा सांख्य मार्ग और तीसरी शाखा ज्ञान-समुच्चय मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। इनमें से ज्ञान-मार्ग से ही आगे चलकर योग और भक्ति के प्रवाह निकले। ज्ञान-प्रधान उपनिषदों में ब्रह्म-चिन्तन के लिए प्रणव का पुष्ट साधन स्वीकृत था। आगे चल कर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओं की उपासना का प्रारंभ हुआ और अंत में ब्रह्म-प्राप्ति के लिए

राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण वासुदेव की उपासना का प्रादुर्भाव हुआ। छांदोग्य उपनिषद् में एक स्थल पर स्पष्टतः अंकित है कि मनुष्य का जीवन एक प्रकार का यज्ञ ही है और यह यज्ञ-विद्या आँगिरस नामक ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को बतलाई। मैत्र्युपनिषद् में यह कई स्थलों पर प्रकट किया गया है कि विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि की भक्ति की जाती है और ये भी परमात्मा एवं ब्रह्म के स्वरूप हैं। परन्तु यह भक्ति साधन-मात्र मानी गई—साध्य ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान ही निरूपित किया गया। इसी हेतु वैष्णव उपनिषदों में भक्ति का निखरा हुआ रूप प्रकट न हो सका।

उपनिषत्काल से लेकर बौद्ध-जैन धर्म के जन्म तक हमारे धार्मिक-विकास का कुछ व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। वैष्णव धर्म प्रवृत्ति-मूलक, सफलता-मूलक है और बौद्ध तथा जैन धर्म निवृत्ति-मूलक ज्ञान-वैराग्य-प्रधान है। इसी हेतु वैष्णव धर्म का यह स्रोत जो उपनिषत्काल के उत्तर भाग में प्रवाहित हो चला था बौद्ध तथा जैन धर्मों के संन्यास-मूलक वातावरण में लुप्त-प्राय हो गया। काल-चक्र की गति बड़ी ही विचित्र है। महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' में भक्ति की एक झिलमिल आभा विकीर्ण हुई जो श्रीमद्भागवत् में विराट् रूप में प्रकट हुई। नारद सूत्र, शांडिल्य-सूत्र में तो भक्ति की बहुत ही सूक्ष्म मीमांसा हुई है। भक्ति की जो सुव्यवस्थित निष्पत्ति श्रीमद्भागवत् में हुई वह नारद तथा शांडिल्य सूत्रों द्वारा प्रवर्तित पावन भक्ति-मय वायुमंडल में पूर्णतः पल्लवित पुष्पित हुई। श्री मद्भागवत के दसवें स्कंध में श्रीकृष्ण की रास तथा चीर हरण की जिन लीलाओं का वर्णन हुआ उनमें

प्रेम एवं आनन्द की इतनी अधिक मात्रा थी कि जनता का हृदय आकृष्ट हुए बिना न रहा।

'गीता' का ज्ञान कर्ममूलक, भक्ति-प्रधान है। इसमें तीनों का समन्वय है। कर्मों को ज्ञान की आग में शुद्ध कर भक्ति-पूर्वक भगवान् के चरणों में सर्वात्म भाव से श्रीकृष्णार्पण कर देना है। गीता नैष्कर्म्य सिखाती है। गीता का भक्त भी 'स्थित-प्रज्ञ' है तथा नित्य सनातन ब्राह्मी स्थिति में विचरनेवाला है। गीता में कहीं कहीं 'परम भाव' की जो झलक मिलती है वह श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध से सर्वथा भिन्न नहीं है। अठारहवें अध्याय में भगवान् के अन्तिम उपदेश वचन को ही लीजिए, जिसे कहकर भगवान् ने अर्जुन के अन्तश्चक्षुओं को खोल दिया है—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

ग्यारहवें अध्याय का वह श्लोक जिसमें अर्जुन भगवान् के विराट् विश्व-रूप को देखकर काँप रहे हैं और 'सखा', 'यादव' 'कृष्ण' आदि कहकर 'विहार, शय्या, आसन, भोजन में अपने किए हुए सख्य-व्यवहार पर वह आत्म-क्षोभ में डूब रहे हैं; क्षमा के लिए भगवान् के चरणों में प्रणत होकर भय से काँपते हुए करुणा से गोल शब्दों में कहते हैं—

'तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव! सोढुम॥

समर्पण का यह कोमल-मधुर भाव पति-पत्नी के संबंध में

ही पूर्णतः चरितार्थ होता है। इसी हेतु भगवान् को पिता और सखा मान कर ही अर्जुन को संतोष नहीं हुआ, 'प्रियः प्रियायाः' ही बनाकर छोड़ा।

साधना का वह परम पावन स्रोत जो पहाड़ की कंदराओं, खोहों-गह्वरों में बह रहा था, उपनिषत्काल में हमारी आँखों के सम्मुख कल-कल वेग से बहता चला जा रहा था, पूर्ण रूप से श्रीमद्भागवत् में ही प्रकट हुआ। हृदय की सम्पूर्ण भावनाओं एवं वृत्तियों को पूर्णतः रमने का पहला अवसर यही था। प्रेम, आनंद एवं सौंदर्य की जो त्रिवेणी श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में प्रस्फुटित हुई है उसमें बार बार मज्जन और पान करके भी हमारा हृदय अघाता नहीं, तृप्त नहीं होता 'अभी और' की आकांक्षा बनी ही रहती है।

भागवत धर्म के मूल तत्त्व-ज्ञान में परमेश्वर को वासुदेव, जीव को संकर्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहंकार को अनिरुद्ध कहा गया है। भगवान् ने गीता में 'वासुदेवः सर्वमिति' ऐसी भावना करने वाले महात्मा को 'सुदुर्लभ' कहा है। इसका विशेष कारण यही है कि प्रेम का परम व्यापक स्वरूप 'रति' में ही सन्निहित है। हमारी वृत्तियों के आलंबन, उद्दीपन, आकर्षण, प्रश्रय एवं प्रसार के लिए, प्रेम के आनन्दमूलक, सौन्दर्य-सत्तात्मक एक ऐसी मधुर मूर्त्ति की उद्भावना होनी चाहिए थी जिसमें हमारा हृदय पूर्णतः डूब जाय। ऐसी छविशाली मूर्त्ति श्रीकृष्ण की ही है।

हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष। हृदय का धर्म है संवेदन, मस्तिष्क का धर्म है चिन्तन। हृदय सुन्दर की ओर आकृष्ट होता है, मस्तिष्क सत्य की ओर। हृदय भक्ति-विह्वल, भावना-प्रवण

होता है, मस्तिष्क ज्ञान-चिंतक एवं आत्मदर्शी। भक्ति प्रधानतः नारी-हृदय का धर्म है। भक्ति 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' लेकर चलेगी परन्तु ज्ञान 'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' लेकर। भक्ति का पथ 'राज-डगरो सो' सरल सुगम एवं सुविस्तृत है परंतु ज्ञान की 'ऊँची गैल राह रपटीली' को 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' कहा गया है। वैष्णव धर्म भावना-प्रधान प्रवृत्ति-मूलक, तथा आनन्द-विधायक है। भगवान् की शील, शक्ति एवं सौंदर्य तीन विभूतियों में राम में तीनों का समन्वय होते हुए भी शील एवं शक्ति का चरम विकास हुआ है। कृष्ण में इसके विपरीत सौन्दर्य की प्रधानता मानी गई है। राम में लोक-मर्य्यादा और आत्म-संयम का ही भाव प्रमुख है, कृष्ण में प्रेम एवं आनंद का। राम में दास्य भाव की ही परितुष्टि होती है परन्तु कृष्ण में सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भाव को। यही कारण है कि भक्ति की सम्पूर्ण रति-भावना की पुष्टि श्रीकृष्ण में ही हुई। इसी हेतु राम-भक्ति-शाखा की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति-शाखा अधिक पल्लवित-पुष्पित हुई। रामानुज और रामानंद जी ही राम-भक्ति-शाखा के प्रधान आचार्य्य हुए परंतु कृष्ण-भक्ति शाखा में वल्लभाचार्य्य, मध्वाचार्य्य, निम्बार्क, विष्णुदास, हितहरिवंश आदि कई हुए। रामभक्ति की परम पुनीत गाथा 'रामायण' तक में ही केंद्रीभूत हुई परन्तु कृष्ण-भक्ति की जो स्रोतस्विनी उमड़ी उसमें श्री चैतन्य, जयदेव, विद्यापति, मीरा, सूर, घनानंद, रसखान आदि कवियों की एक धारा सी छूट पड़ी।

राधा का अभाव श्रीमद्भागवत में अवश्य खटकता है, परन्तु

आनंद-विधायिनी रुक्मिणी तथा सहस्र सहस्र गोपियों की केलि-क्रीड़ा में 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' का भाव हमारे हृदय पर सदा के लिए अमिट रूप में जम जाता है! पूतना और कंस के मारनेवाले, सुदामा के तन्दुल और विदुर के साग पर रीझने वाले, प्रेम आनन्द एवं सौन्दर्य की अपार राशि, सहस्र सहस्र गोपियों के प्राण-वल्लभ और यशोदा के लाड़ले-दुलारे श्रीकृष्ण हमारे हृदय के हृदय में सदा के लिए बस जाते हैं।

परम भाव का स्वरूप

ऋग्वेद की एक ऋचा का अंश है—'योषा जारमिव प्रियम्' जिसका भावार्थ यह है कि ईश्वर के प्रति मनुष्य के प्रेम का आवेग परकीया नारी के उपपति के प्रति आवेग के समान होना चाहिए। परम भाव की तात्त्विक सूक्ष्म मीमांसा पूर्णतः उपर्युक्त पद में की गई है। प्रेम का परितः परिपाक परकीया में ही होता है। स्वकीया में तो वह नियंत्रित होकर आत्म-बोध का सहायक बन जाता है। सहजिया संप्रदाय के विचार में राधा (ऊढ़ा) का प्रेम ही आदर्श प्रेम है। प्रकृति में जो मिथुन-भाव चल रहा है, स्त्री-पुरुष में जो आकर्षण है उसे ही साहित्य में 'रति भाव' और साहित्य के अनन्तर साधना-क्षेत्र में 'मधुर भाव' कहते हैं। ईसाई ईसा-मरियम, सूफी लैला-मजनूँ अथवा शीरीं-फरहाद तथा हिन्दू राधा-कृष्ण के द्वारा अपनी इस परम भावना को

व्यक्त करते हैं। परकीया नारी अपने सारे कार्य्यों में फँसे रहने पर भी अपने प्राणवल्लभ प्रेमी का स्मरण किया करती है और मिलन की प्रतीक्षा में व्याकुल हो तड़पती रहती है—

'पर व्यसनि न नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु ।
तमेव स्वादयत्यन्तर्नव सङ्ग-रसायनम् ॥'

हम अपने सभी नाते भगवान् में स्थापित करना चाहते हैं। हमारे भीतर जो अपूर्णता है वह हमें चैन नहीं लेने देती। 'शांत भाव' में हमारी रति-भावना का प्रस्फुरण नहीं होता। स्वान्वस्थ ईश्वर में लय होनेवाले आत्मदर्शी सिद्ध-सन्तों ने प्रभुजी की जो झाँकी पाई उसे कभी-कभी अपने प्रेम-विह्वल गीले शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास किया है। कबीर ने 'धुनि लागी नगरिया गगन घहराय' द्वारा उसी अव्यक्त आनन्द को व्यक्त करने की चेष्टा की है। सुन्दरदास ने भी इस 'मधुर मिलन' का उल्लेख किया है—

'है दिल में दिलदार सही अँखियां उलटी करि ताहि चितैये ।
आब में, खाक में, बाद में आतस, जान में सुंदर जान जनैये ॥
नूर में नूर है, तेज में तेजहि, ज्योति में ज्योति मिलै मिल जैये ।
क्या कहिये कहते न बने, कुछ जो कहिए कहते ही लजैये ॥'

यह आनंद योगियों के 'अनहद' से भी कुछ बढ़कर है। इस 'शान्त भाव' में जो आनन्दानुभूति है वह भी द्वैत-मूलक है। प्रेम और आनंद दोनों द्वैत-मूलक हैं। दो का एक में लय होने की क्रम-व्यवस्था ही प्रेम एवं आनंद की मूल-प्रेरणा है।

हाँ, तो, हमारे इन्हीं संबंधों को, जिन्हें हम भगवान् में स्थापित कर पूर्णतः उस संबंध-विशेष में लय होना चाहते हैं, पाँच मुख्य भावों में विभक्त किया गया है—शान्त, दास्य, सख्य,

वात्सल्य और मधुर। इनमें शान्त और दास्य तो 'भाव' तक ही रह जाते हैं परन्तु सख्य, वात्सल्य और मधुर 'रति' कहे जाते हैं। यह प्रकट करने की अब आवश्यकता न रही कि इन भावों में हमारी रति-भावना क्रमशः तीव्र होती चलती है। शान्त-भाव के पूर्ण आत्म-समर्पण तक पहुँचने के क्रम-विकास के ये भाव परिचायक हैं। यहाँ यह भी भूल न जाना चाहिए कि शान्त भाव या उसके पूर्व की स्थिति अर्थात् परमात्मा के प्रति हृदय की रुझान को भी हमारे ऋषियों ने प्रभु की प्रेरणा ही का फल माना है * जिसे गोसाईंजी ने 'सो जानत जेहि देहु जनाई' द्वारा प्रकट किया है। हमारे हृदय में भक्ति का जो पौधा उगता है उसका बीज परमात्मा की प्रेरणा में ही सन्निहित है। भक्ति में प्रेम का पुट प्रारंभ से ही रहता है। बिना प्रेम के भक्ति हो नहीं सकती। 'प्रेम-भक्ति' तो पंचम् पुरुषार्थ मानी गई है जिसे प्राप्त करना कठिन है। इसी अहेतुकी परम भक्ति द्वारा हमारा सम्बन्ध भगवान् से स्थापित होता है। विश्व-मनमोहन व्रज वल्लभ ही जो पहले हमारा स्वामी है धीरे-धीरे सखा हो जाता है। परन्तु इस समानता से हमारा जी नहीं भरता। जो हमारा सखा है वह दूसरे का भी सखा हो सकता है; उसके प्रेम का भागी दूसरा भी हो सकता है। हम तो अपने प्रेम-पात्र के ऊपर अपना पूर्ण अधिकार या इजारा चाहते हैं। हमारी कामना तो यही होती है कि हम सर्वथा उसीके हो जायँ और वह सर्वथा हमारा ही, केवल हमारा ही, बस एकमात्र हमारा ही हो जाय।

* नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुंस्वाम्॥

सख्य-भाव में प्रेम की अद्वैतता नहीं मिलती। इसमें 'ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देउँ' की अभिलाषा पूरी नहीं होने पाती। प्रेम तो एकाधिपत्य ही चाहता है, इसमें तीसरे की गुंजाइश ही नहीं है। वात्सल्य-भाव में यह एकाधिपत्यता प्राप्त हो जाती है। जो हमारा पुत्र है वह किसी और का नहीं हो सकता। उसे प्यार चाहे जितने करें परन्तु हमारा उसका संबंध तो अविच्छिन्न बना रहेगा। उसके भी मित्र, सखा जितने ही हों परन्तु माता तो एक ही होगी, जिसके प्रेम-पूर्ण अधिकार में कोई भी अन्य संबंध बाधा नहीं डाल सकता। पुत्र पर माता की एकमात्र अनन्यता होती है। कहावत है 'डायन को भी अपना बेटा प्यारा होता है।' भगवान् कृष्ण के विराट् रूप को देख, अर्जुन, जिनकी उपासना सखा-भाव की थी, भय से काँपने लगे, परन्तु वही रूप यशोदा के हृदय में भय का संचार न कर सका। अर्जुन अपनी भूलों, त्रुटियों एवं अपराधों के लिए भगवान् से क्षमा माँगने लगे परन्तु यशोदा अपनी प्यार-जन्य प्रताड़ना के लिए क्षमा माँगने न गई।

प्रेम की पराकाष्ठा कान्त-भाव में ही प्राप्त होती है। सर्वात्म-समर्पण की पूर्ण अभिव्यक्ति यहीं होती है। पत्नी पति के संपूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है; उससे उसकी कोई लाज नहीं, कोई दुराव-छिपाव नहीं। पत्नी पति के प्यार स्नेहादि की भी अधिकारिणी है, सेवा की भी। पति पत्नी का सखा भी है, स्वामी भी, प्रेमी भी है, प्राणनाथ भी। अवसर पर पत्नी माता के अभाव को भी पूरा करती है। इसी हेतु इस 'परम भाव' में सभी भावों का रसायन तैयार हुआ है।

परमभाव की साकार प्रतिमा राधा हैं। महाभाव में राधा और कृष्ण का चिरन्तन विहार होता रहता है। कभी-कभी राधा ही कृष्ण तथा कृष्ण ही राधा-रूप में आकर केलि-क्रीड़ा करते हैं। कृष्ण कभी-कभी कालिन्दी-कूल के करील-कुंजों की सघन छाया में राधा के पाँय पलोटते हुए तथा रूठी हुई प्रियाजी से 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' की याँचना करते हैं। राधा की भाँति मीरा की उपासना भी परम भाव की थी। स्वप्न में मीरा ने अपने अधरों पर कृष्ण के चुम्बन का शीतल-मधुर, विद्युत-स्पर्श अनुभव किया और गिरिधारीलाल को ही अपना प्राणवल्लभ पति मान कर सर्व्वात्म-समर्पण कर दिया।

सन्तों ने भी इसी परम-भाव में ही अपनी अनुभूति की उपलब्धि की है। कबीरदास ने भी अपने को 'हरि की बहुरिया' कह कर परिचय दिया है। सूफ़ी फ़क़ीरों में तो यही भाव ओतप्रोत है। 'साजन के घर' का आह्वान सुनने वाले 'सून्न महल' में सेज बिछाने वाले भावुक भक्तों ने 'प्रीतम' को ही सम्बोधित कर अपनी अनुभूति-मूलक प्रेमोपासना की दिव्य संगीत-धारा में हृदय की लालसा और आत्मा की भूख-प्यास को बुझाया है। दास्य-भाव के उपासक गोस्वामी जी तक ने भी 'कामिहिं नारि पियारि जिमि' की भावना में ही हृदय को तृप्त होने का आदर्श स्वीकार किया है। यहाँ 'नारि' में परकीया का ही बोध होता है जिसमें 'रति' की चरम अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह कि निर्गुण सन्तों तथा मर्य्यादावादी लोकसंग्रही भक्तों ने भी जीवन की पूर्णावस्था में पति-पत्नी भाव के गहरे प्रेम के रूप में भगवत्प्रेम को ग्रहण किया है। सन्तों ने समाधि के निर्वातस्थ

दीप की लौ की भाँति निर्विकल्प चित्त की साम्य अवस्था में भी अपने 'प्रियतम' के मधुर स्पर्श का ही अनुभव किया है।

यह स्थूल जगत् जिसमें विषमता तथा विरोध के प्रवाह चल रहे हैं वस्तुतः भगवान् की लीलाओं का प्रसार-मात्र है। तह में प्रवेश करने वाले भावुक भक्तों ने अणु-अणु में उसी 'एक' परम रूप की मोहक छवि को ही देखा है। इस विभिन्नता के भीतर से एकता निकालना यथार्थ ज्ञान है। बर्फ की इस विशाल चादर के नीचे मधुर प्रेम का अविछिन्न सोता बह रहा है। चराचर के यावत् पदार्थों में एक शृंखला है, एक सिद्धान्त है, एक नियम है, एक व्यवस्था है। इसी विराट् विश्व-प्रवाह में, इस अविच्छिन्न रस-स्रोत में आ-मिलना ही सच्ची साधना है। अणु-अणु में विकीर्ण उस 'परम रूप' की परिछाँही के स्पर्श में आ जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है। यह तभी संभव है जब 'बुतों के परदे में छिपे हुए खुदा' को देखते हुए सब भूतों तक, विश्व के यावत् चराचर तक हृदय को फैला कर जगत् में भाव-रूप में हम रम जायँ। यही परमभाव का उत्कृष्ट स्वरूप है।

रास और चीर-हरण का रहस्य

वैष्णव-संप्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियों में 'परम भाव' के उपासकों को यमुनातट, वंशीवट, करील-कुंज, वृंदावन की गलियों तथा उनमें होनेवाली रास की क्रीड़ा ने बहुत अधिक आकृष्ट किया है। परम भाव की सम्यक् उद्भावना में रास का बहुत हाथ है। मीरा की प्रेम-भावना भी रास और चीर-हरण की इन लीलाओं से मूलतः ओत-प्रोत है। मीरा ने इन लीलाओं का कहीं वर्णन तो नहीं किया है परन्तु इसके मधुर रस का आभास यत्र-तत्र उसके पदों की अन्तर्धारा में स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है। अस्तु

शरद की शोभनीया यामिनी में यमुना के तट पर दूर तक फैली हुई, लहराती हुई कुंज-कुटीर में चन्द्र-ज्योत्स्ना छिटकी-बिखरी पड़ी है। यमुना के नील-नीले जल-प्रवाह पर भगवान् चंद्रदेव अमृत-

वर्षा कर रहे हैं। वृंदावन की समस्त वन-भूमि मधुमयी हो गई है। निर्मल ज्योत्स्ना में स्नान कर कुसुमों से लदी हुई तरु-लताएँ, ज्योत्स्ना प्लावित यमुना का जल आज किसी अपूर्व आनंद में किसी के साथ क्रीड़ा करने की तैयारी में हैं।

सैकड़ों कुञ्ज-कुटीर हैं। श्रीभगवान् की विहार-वासना ने आज इसे पागल बना दिया है। वंशी बजती है और—

वंशी धुनि सुनि गोप-कुमारी।
अति आतुर ह्वै चली श्याम पै
तन मन की सब सुरति बिसारी॥
गल को हार पहिर निज कटि महँ,
कटि की किंकिणि गल महँ डारी।
पग पायलनै धारण कर में
कर की पहुँचिया पगन सँभारी॥
कान बुलाक, कपोलन बेंदी,
नाक में पहिरि कान की बारी।
एक नैन अंजन बिनु सोहै
एक नैन में काजर सारी॥
कोउ भोजन पति परसत दौरी
कोउ भोजन तजि दीन्ही थारी।
'नारायण' जो जैसी हुती घर
सो तैसेहि उठि विपिन सिधारी॥

जो जिस स्थिति में है वह वैसीही प्रेम-विभोर होकर चल पड़ी। रास प्रारंभ होता है। बीच में राधाकृष्ण की युगल जोड़ी है, चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण। सारी प्रकृति रास-मय, आनंद-मय, कृष्ण-मय हो जाती है। गोपियों

के प्राण कृष्ण-रसामृत से ओत-प्रोत हैं। नाचते नाचते सारी सुध-बुध खो जाती है—

"लोचन श्यामरु, वचनहिं श्यामरु
श्यामरु चारु निचोल।
श्यामर हार हृदय मणि श्यामर
श्यामर सखि करु कोल॥"

श्रीमद्भागवत् का दशम स्कंध इसी लीला-माधुर्य्य से ओत-प्रोत है। श्रीभगवान् की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। निखिल ब्रह्मांड रास के फाँस में गँथा हुआ है। राधा और कृष्ण का केंद्र में होना प्रकृति तथा पुरुष की कौतुक-प्रियता तथा संयोग का ही व्यंजक है। चारों ओर गोपियाँ-रूपी आत्माएँ अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ नाच रही हैं। कृष्ण सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। सभी को अपना अपना भिन्न दिखाई पड़ते हैं। परन्तु सभी गोपियों के हृदय-प्रवाह में कृष्ण 'एक रस' समान भाव से विद्यमान हैं। हमारा हृदय ही वृन्दावन का विहार-स्थल है—जिसमें हमारे प्रेम के प्रवाह के तट पर श्रद्धा के कुंजों के नीचे हमारी राधा रूपिणी आत्मा अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ अनंत रास में संलग्न है।

चीर-हरण की लीला भी श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध में वर्णित है। एकबार गोपियों ने व्रत किया और उसी व्रतकाल में वे सब वस्त्र उतार कर स्नान कर रही थीं। इसी बीच में श्रीकृष्ण भी वहाँ पहुँचे। गोपियों के नग्न स्नान पर उन्हें कुतूहल हुआ। वे उनके वस्त्र को लेकर कदम्ब के ऊपर चढ़ गये और गोपियाँ जब अपना वस्त्र माँगने लगीं तो वे कहते हैं—

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देव हेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ॥

परन्तु संकोच की मारी गोपियाँ आगे बढ़ नहीं पातीं। अपना नग्न रूप वे अपने प्राणवल्लभ के सम्मुख भी खोलने में हिचकती हैं। इसके उपरान्त का श्लोक है—

भवत्यो यदि मे दास्यो
मयोक्तं वा करिष्यथ ।
अत्रागत्य स्व वासांसि
प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥

सामीप्य और साहचर्य के रहते हुए भी हम अपने प्राण-नाथ और अपने बीच परदा बनाये रखते हैं। हम पूर्णतः अपना नग्न हृदय अपने हृदय-सर्वस्व के सम्मुख रखने में संकोच करते हैं। हमें अपना आवरण ही प्रिय है। जो हमारे हृदय का स्वामी है उससे लाज किस बात की?

निरावरण हो जाना ही साधन है। मन की गति विचित्र है। भगवान् को पाए बिना भी नहीं रहा जाता, पर्दा भी हटाते नहीं बनता। भगवान् भी मिलें और आवरण भी रहे यही जीव की इच्छा है।

दुनिया के हँसने और अनावृत हो जाने का भय ही हमें भगवान से मिलने नहीं देता। परन्तु 'वह' तो हमारे अनावृत हृदय को ही देखना चाहता है। गोपियाँ नग्न होकर प्रेम-विभोर होकर, सब कुछ छोड़कर, सर्व-शून्य बनकर, लोक-लाज को

रौंद कर परम पूर्ण को प्राप्त करने के लिए 'उन' के चरणों में दौड़ी आई हैं। इस जनाकीर्ण जगती में इसी प्रकार जब हम एकाकी रह जाते हैं उस समय हमारे आर्त्त हृदय की तीव्र वेदना पर 'महाराज' दौड़े आकर हमें उठा लेते हैं। इसीको 'Lifting of the veil' कहते हैं।

वैष्णव भक्तों में चीरहरण और रास की लीलाएँ बहुत ही व्याप्त हैं। उनकी साधना का सम्बल भी यही है। इसी भावना के मधुर रस में वे डूबे। मीरा का सरल, निश्छल, भावुक रमणी-हृदय इसके लिए सर्वथा उपयुक्त था। हाँ, इतना जान लेना आवश्यक है कि उपर्युक्त परमभाव की विराट् सत्ता की उद्भावना श्रीमद्भागवत में बहुत ही सांकेतिक रूप में मिलती है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने ही अपने भाव-प्रवाह की उमंग तथा कीर्त्तन के उन्माद में इस विराट-भावना की सम्यक् अनुभूति की थी। वही संगीत-प्रवाह जिस में प्रेम का उच्छ्वल जलधि-तरंग विद्यमान था मीरा के हृदय-लोक में उपप्लव के रूप में अवतरित हुआ।

मीरा के आविर्भाव-काल में भक्ति का स्वरूप

शंकर के शुष्क ज्ञानवाद में जनता की वृत्तियों का रमना संभव न था। विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापक रामानुज ने जन-समुदाय के हृदय को आकृष्ट करने के लिए एक सहारा ढूँढ़ निकाला परन्तु उन्हें भी अद्वैत का आतंक लगा ही रहा। सेरहवीं शताब्दी के आदि मध्यकाल में स्वामी वल्लभाचार्य का आविर्भाव हुआ और जनता के सामने सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण की भक्ति का एक बहुत ही सुव्यवस्थित निखरा हुआ रूप उपस्थित हुआ। माध्व और निम्बार्क ने इसी भक्तिधारा को और भी अधिक हृदय-ग्राहिणी और आकर्षक बनाया। राधा का अभाव जो वल्लभ और माध्व में खटक रहा था निम्बार्क द्वारा पूरा हुआ। भक्ति प्रेम में लय हो जानेवाली कही गई और प्रेम के आलंबन, आश्रय, उद्दीपन आदि की पूर्ण व्यवस्था द्वारा जनता

के संपूर्ण हृदय को इन प्रेममार्गी आचार्यों ने प्रेम-भक्ति से अभिभूत कर दिया। हृदय में श्रद्धा एवं प्रेम की प्रेरणा द्वारा इच्छाएँ एवं कामनाएँ भी कृष्णार्पण हो गईं।

व्यक्तिगत आत्मानुभूति के लिए 'सोऽहमस्मि' की अखण्ड वृत्ति भले ही संभव हो परन्तु जनता के हृदय में प्रवेश कर भगवान् के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का भाव दृढ़ करनेवाले तो ये भावुक भक्तिवादी, द्वैत-संप्रदाय के आचार्य ही हुए। अद्वैत को लेकर जीवन के सभी कर्म और व्यवहार में ब्रह्मात्मैक्य की अक्षुण्ण भावना बनाए रखना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। स्वामी शंकराचार्य ने भी इस कठिनाई का अनुमान पहले ही अवश्य कर लिया था और इसी हेतु गीता-भाष्य के आरंभ में श्रीकृष्ण को परमेश्वर, माया के अधीश्वर, नियंता तथा साक्षात् नारायण माना है। इनके प्रसिद्ध अनुयायी श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती ने तो 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने' ही कहा था। इस प्रकार स्पष्ट है कि मायावादियों ने भी भक्ति का आश्रय लिया है और श्रीकृष्ण को ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप माना है।

मीरा का जन्म लगभग सं० १५५५ विक्रम माना जाता है। इस समय देश में भक्ति और ज्ञान की अनेक धाराएँ चल रहीं थी। उनमें पाँच धाराएँ मुख्य हैं। इनकी गति-विधि जान लेना आवश्यक होगा क्योंकि इन सबकी छाप किसी-न-किसी रूप में, थोड़ी-बहुत, मीरा पर अवश्य पड़ी है।

सब से पहली धारा निर्गुण सन्तों की है। मीरा के ठीक सौ वर्ष पूर्व कबीर का जन्म हुआ था। उनका पंथ अभी भी बड़े वेग से चल रहा था यद्यपि उस में भी जप, माला, छापा,

तिलक का प्रवेश हो चुका था। फिर भी मूर्तिपूजा, छूआछूत तीर्थाटन, संस्कार, जाति-पांति, आदि का विरोध करनेवाली साधुओं की एक टोली देश में 'निर्गुन' के पद गा-गा कर तथा अपने मन से भी रचे हुए पदों को 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' के नाम पर प्रचार-कार्य में व्यस्त थी। उनमें न कबीर की तरह आत्मानुभूति ही थी और न आत्म-विश्वास का प्रखर तेज ही। हाँ, ब्रह्म-चिन्तन का लग्गा लगा रहा।

इन्हीं 'निर्गुणिये' फकीरों की भाँति गोरखपंथी दल भी तंत्र और हठ-योग द्वारा ब्रह्मानुभूति का प्रचार कर रहा था। 'त्रिकुटी महल' में 'प्रीतम की सेज' सजानेवाले इला, पिंगला, और सुषुम्ना को साधकर ब्रह्मानंद में लय हो जाते थे। नाभिकुंड के पास कुंडलिनी है, इसे ही जगाकर सुरंग सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ब्रह्म-रंध्र तक पहुँचनेवाले इन तांत्रिक हठयोगियों का भी दौर-दौरा राजस्थान में विशेष रूप से था।

जायसी का 'पद्मावत' वि० सं० १५९७ में लिखा गया था। उस समय मीरा की अवस्था ४२ वर्ष की थी। 'पद्मावत' के पूर्व 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि प्रेम-गाथा की पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं। इससे स्पष्ट है कि सूफी महात्माओं का प्रभाव उस समय देश में पूर्णतः था। 'प्रेम की पीर' लेकर हिन्दू जीवन के भीतर अपनी प्रेमसाधना को जाग्रत करनेवाले 'इश्कहक़ीक़ी' के इन प्रेम-प्रवण भावुक कवियों ने देश में एक अपूर्व लहर चला दी थी। अवधी भाषा में, सीधे-सादे दोहे-चौपाइयों में अपूर्व सहृदयता से अपने 'हिय की पीर' को व्यक्त करनेवाले इन प्रेममार्गी सूफी भक्त कवियों के गीत का देशने बड़े उत्साह, चाह

एवं उल्लास से से स्वागत किया।

मीरा का जन्म १५५५ वि० के लगभग माना गया है। विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठापक श्री रामानुज के शिष्य स्वामी रामानन्दजी ने 'सीताराम' की उपासना चलाई। इनके प्रसिद्ध शिष्यों में कबीर और गोस्वामी तुलसीदास जी हुए। कबीर के 'राम' तो रामानंद जी के 'राम' से अलग हो गये परन्तु 'सीताराम' की भक्ति का पूर्ण विस्तार गोस्वामीजी की 'रामायण' में हुआ। 'सियाराममय सब जग जानी' तथा 'बंदौं सबहिं राम के नाते' द्वारा गोसाईं जी ने भक्ति की चरमावस्था को जनता के सम्मुख रखा।

उधर रामानंद जी तथा उनकी शिष्य-मंडली लोकसंग्रह, संयम, शील, और शक्ति के अवतार मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र की उपासना का प्रचार कर रही थी इधर व्यक्तिगत साधनामें ही प्रेम तथा आनंद की लोक-व्यापिनी मूर्त्ति की उद्भावना करनेवाले स्वामी वल्लभाचार्य्य जी भी अपने मत के प्रचार में संलग्न थे। माध्व और निम्बार्क के योग से यह धारा और भी प्रखर और सुमधुर हो चली। श्री चैतन्य देव ने भाव-प्रवाह में रम कर कीर्त्तन की प्रथा चलाई और 'महाभाव' का आविर्भाव हुआ। प्रेम, आनंद तथा सौन्दर्य ही भगवान् की प्रधान विभूति मानी गई जिसे गौरांग महाप्रभु ने अपने प्रेम-परायण भाव-प्रवण हृदय में पूर्णतः अनुभव कर व्यक्तिगत साधना का वह स्रोत बहाया जिसमें लोक-हृदय को रम जाने का पूर्ण अवकाश एवं क्षेत्र मिला।

रूप एवं लीला में विहार करनेवाले नवद्वीप के इस भावुक

प्रेमी भक्त ने आनंद का जो स्रोत बहाया वह जयदेव के 'धीर समीरे यमुना तीरे वसति वने वनमाली' में पूर्णतः व्याप्त था। शृंगार की, मिलन-माधुरी की जो पराकाष्ठा 'गीत-गोविंद' में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार मिथिला-कोकिल विद्यापति के 'जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरिपित भेल' में भी प्रेम की अनन्त अतृप्त आकांक्षा की बड़े ही भावपूर्ण, मधुर छन्दों में उद्भावना हुई है। जयदेव तथा विद्यापति प्रेम के संभोग शृंगार के अपूर्व कवि हैं। नवद्वीप की यही पुनीत प्रेम-धारा जो गीतों में बह रही थी मिथिला की अमराइयों में विरमती हुई व्रजभूमि में अपने प्राणवल्लभ के चरणरज को लेकर नवीन चेतना एवं प्राण से अनुप्राणित होती हुई राजस्थान की इस पगली प्रेम की पुजारिन के आँगन में उतरी।

मीरा के कुल-संस्कार एवं परिस्थिति

परमात्मा मनुष्य के द्वारा अपना उद्देश पूरा कर रहा है। मानव के सभी कार्य्य मूलतः परत्मामा की प्रेरणा से ही चल रहे हैं। हम उसके हाथ में यन्त्र की भांति हैं—'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया'। हमारे तुच्छ अहं का मोहक पर्दा बड़ी बेरहमी से हमारे उसके बीच पड़ा हुआ है जो उठाए नहीं उठता; फिर हम विश्व के प्राण में तल्लीन हो कर सत्यं, शिवं, सुन्दरं की झाँकी कैसे पा सकें? परन्तु हमारा वही 'प्रेरक प्रभु' प्रेम की बंसी फेंक कर, उसकी गाँस में हमारे हृदय को उलझा कर हमें अपनी ओर खींच लेता है। इस 'मौन निमंत्रण को हम कई रूप में अनुभव करते हैं। उसका 'आखेट' बराबर चलता रहता है।

जिससे जितना बड़ा कार्य्य कराना होता है, उस पर उतनी

ही करारी चोट पड़ती है। 'बुद्धिमती' की गाँस लगा कर तुलसी को चमकाया। ऐसी ही ठेस पिंगला द्वारा सूरदास को लगी बताई जाती है। क्षणभंगुर जगत् के छिछले रूप को देख बुद्ध 'निर्वाण' की खोज में संलग्न हुए! प्यार, सेवा एवं त्याग के नाम पर ईसा को अपने ही से लाये हुए 'Cross' पर लटक जाना पड़ा!

अठारह वर्ष की अवस्था में उदयपुर के सिसोदिया कुल में मीरा का विवाह कुँवर भोजराज जी के साथ हुआ। विवाह के कुछ ही दिन के पश्चात् इनके पति का परलोकवास हो गया। बचपन से ही मीरा के हृदय में श्रीकृष्ण की उपासना घर किए हुए थी। तेईस वर्ष की अवस्था के भीतर ही माता, मातामह, पति, पिता तथा श्वसुर के परलोक हो जाने से इनके हृदय में तीव्र विरक्ति हुई। पितामह परम वैष्णव दूदाजी के पुनीत संसर्ग द्वारा आरोपित भक्ति-भाव का बीज धीरे-धीरे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित होता गया, जड़ पकड़ता गया। मीरा अपना अधिक समय अपने इष्ट देव श्री गिरिधारीलालजी के स्मरण, कीर्त्तन, अर्चन आदि में लगाने लगी। पैरों में घुँघरू बाँधकर, हाथ में करताल लेकर, प्रेम-विभोर होकर मीरा जब अपने प्राणाधार 'देवता' के सम्मुख नाचने लगती तो आँखों से आँसुओं की धारा बह चलती, रोम-रोम से 'प्रियतम-प्रियतम' की ध्वनि गूंज उठती। घर पर संत-फकीरों की खासी भीड़ लगी रहती थी। यह सब इनके देवर से सहा नहीं जाता था। 'राह पर लाने' की कोशिशें होने लगीं। परन्तु प्रेमी के चित्त की अनियारी गति! मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की। मीरा घर से निकल पड़ी और वृन्दावन तथा द्वारिका में

श्रीगोपालजी के मंदिर के सामने प्रेम-विह्वल हो कीर्तन किया करती, नाचा करती। विष का प्याला भेजा गया, ठाकुरजी का चरणामृत समझकर पी गई। साँप भरी पिटारी भेजी गई, वनमाली का प्रसाद समझ गले में धारण कर लिया। स्वजनों की इन चेष्टाओं से खिन्न होकर मीरा ने एक पत्र गोस्वामीजी को लिखा—

श्री तुलसी सुखनिधान दुखहरन गुसाईं।
बारहि बार प्रनाम करूँ हरो सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु-संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई॥
बालपने ते मीरा कीन्ही गिरिधर लाल मिताई।
सो तो अब छूटै नहि क्योंहूँ लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात-पिता के सँम हौ हरि भगतन सुखदाई।
हमकू कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई॥

जिसके उत्तर में गोस्वामीजी ने धैर्य्य बँधाते हुए लिखा था—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥

मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी बहुत बचपन से ही पड़ी सुलग रही थी। एक दिन उसी नगर में जहाँ मीरा रहती थी एक बारात आई, और स्वभावतः, जैसे छोटी-छोटी लड़कियाँ अपनी माँ से पूछती हैं, मीरा ने अपनी माता से पूछा कि मेरा पति कौन होगा? माता ने यों ही श्रीगिरधारी लाल की मूर्ति की ओर संकेत करते हुए कहा 'ये ही तुम्हारे पति होंगे'। मीरा का यह हठ हो गया कि वह श्रीगिरधारी लाल से ही विवाह करेगी।

एक यह कथा भी प्रचलित है कि मीरा के घर एक साधू आया जिसकी पूजा में एक मूर्ति थी। उसे देख मीरा तुल गई कि वह वही मूर्त्ति लेगी ही। कई दिनों तक खाना-पीना छोड़े रही। अन्त में उस साधु को स्वप्न हुआ और वह मूर्त्ति दे गया।

एक समय की बात है कि मीराबाई वृंदावन में साधुओं और भक्तों का दर्शन करती हुई जीव गुसाई के स्थान पर उनके दर्शन के लोभ से पहुँची। जीव गोसाईं स्त्रियों से परहेज करने-वाले जीव थे और उन्हें देखना भी वे पाप समझते थे। उन्होंने कहला भेजा कि हम स्त्रियों से नहीं मिलते। इसपर मीरा ने उत्तर दिया कि वृन्दावन में मैं सभी को सखी-रूप में मानती हूँ—पुरुष केवल श्रीगिरधारी लाल को ही जानती-सुनती रही, पर आज मालूम हुआ कि उनके और भी पट्टीदार हैं। इन प्रेम-रस में भीने हुए वचनों को सुनकर गुसाईंजी अत्यन्त लज्जित हुए और नंगे पैर बाहर आकर मीराबाई को बहुत आदर एवं श्रद्धा के साथ भीतर ले गये।

कहा जाता है कि मीरा श्रीकृष्ण की एक सखी का ही अव-तार थी। मीरा के कई पदों में 'मैं लियो पूरबलो वर रे' तथा अपने 'पूरब जनम का साथी' का उल्लेख है। कबीर ने भी अपने कई पदों में अपने 'पूरब जनम के यार' को याद की है। पुनर्जन्म को माननेवाले साधना के क्रम-विकास की अविच्छिन्न गति को जन्म-जन्मान्तर से होती हुई मानते हैं। इस संबंध में भगवान् श्रीकृष्ण के वचन स्मरण हो आते हैं—

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

तथा

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

तथा

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योग-क्षेमं वहाम्यहम्॥

भक्ति-भावना के क्रम-विकास में कभी प्रत्यवाय नहीं होता। सच्ची लगनवालों में भगवान् ऐसी प्रेरणा भर देते हैं जिसके द्वारा भक्त भगवान् को प्राप्त कर लेता है। संसार में चारों ओर से सिमिट कर प्रभु में अपनी श्रद्धा-भक्ति की भेंट चढ़ानेवाले के सारे बोझ, उसके संपूर्ण योगक्षेम का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। भगवान् तो प्रेम का भिखारी है, पूजा का नहीं। श्रीमद्भागवत् के एकादश स्कंध में भगवान् के वचन हैं—

न साधयति मां योगो, न सांख्यधर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो, त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रभुजी को अपना उद्देश जिससे पूरा कराना होता है उसे 'वह' विचित्र परिस्थितियों में डाल कर, संसार के सारे आवरण हटा देता है और निरावरण कर छोड़ता है। 'वह' अपने जूए का भार हम पर डालता जाता है। अन्त में जब हम सर्वथा उसके अमिट प्रभाव में आ जाते हैं तो यह जीवन ही हुताशन की भाँति पवित्र हो जाता है—उस समय तो सभी बंधन स्वयं छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सर्वथा मुक्त होकर, प्रेमविह्वल होकर—

मीरा नाचे रे
घुँघुरू पहिन मीरा नाचे रे॥

प्रेम की चिनगारी

श्री नाभादास के 'भक्त-माल' में मीरा का परिचय यों लिखा है—

सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टन दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल ज्यों अमृत पीयो॥
भक्ति-निसान बजाय के काहू ते नाहीं लजी।
लोक लाज, कुल शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी॥

इसके कुछ ही काल अनन्तर मीरा के संबंध में श्री ध्रुवदास जी ने अपनी 'भक्त-नामावली' में लिखा है—

लाज छाँड़ि गिरिधर भजी, करी न कछु कुल कानि।
सोई मीरा जग विदित प्रगट भक्ति की खानि॥

ललिता हू लइ बोलिकै तासों अति हेत।
आनंद सो निरखत फिरै वृन्दावन रस-खेत॥
नृत्यत नूपुर बाँधि कै, नाचत लै करतार।
विमल हियौ भक्तनि मिली, तृन सम गन्यो संसार॥
बंधुनि विप ताको दियौ करि विचार चित आन।
सो विप फिरि अमृत भयौ तब लागे पछितान॥

कुल-संस्कार एवं परिस्थितियाँ निमित्त-मात्र थीं। मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी बहुत बचपन से विद्यमान थी और यही चिनगारी आगे चलकर विराट् प्रेम-ज्वाला बन गई और इसने मीरा को आत्मसात् कर लिया। गुरु की महिमा सभी संत-भक्तों ने गाया है। 'गुरुः साक्षात्परब्रह्म' तक भी कहा गया है। इस निविड़ अंधकार-पूर्ण जगत् में स्वयं पथ ढूँढ़ लेना असंभव ही है। इसमें तो अपना हाथ तक नहीं सूझता। इसी हेतु गुरु की सहायता भगवत्पथ में अत्यन्त आवश्यक एवं अनिवार्य्य है। इसी हेतु नवधा भक्ति में 'श्रवण' प्रथम सोपान है, अध्ययन नहीं। 'वाक्य-ज्ञान' में निपुणता प्राप्त कर लेने से ही यदि भक्ति का पथ सुगम हो जाता तो केवल तर्क की ही पूजा होती रहती। कबीर तथा सहजो ने तो गोविंद से भी बढ़कर गुरु को माना है। 'घूँघट का पट' खोलकर गुरुदेव ही हमें 'राम' से मिला सकते हैं। हृदय पर पड़े हुए अज्ञान के पर्दे को वही हटा सकते हैं। हृदय की आँखें तो गुरु की कृपा से ही खुल सकती हैं। मीरा रैदासजी की शिष्य कही जाती हैं। रैदासजी रामानंद के शिष्य, 'रामनाम' के उपासक, कबीर के गुरु-भाई, निर्गुणपंथी संत थे। कबीर, रैदास और पीपा प्रायः समकालीन थे और

'बानी' द्वारा अपने उपदेश से जनता में शुद्ध ज्ञान का प्रचार कर रहे थे। रैदासजी कबीर की अपेक्षा अधिक भाव-प्रवण साधु थे। परमात्मा के साथ अपने मधुर प्रेम-भाव को उन्होंने बड़े ही सुन्दर, भाव-पूर्ण शब्दों में व्यक्त किया है—

प्रभु जी! तुम चंदन हम पानी
जाकी अँग-अँग बास समानी।
प्रभु जी! तुम दीपक हम बाती
जाकी जोति बरै दिन राती॥

रैदास की सहृदयता, भावुकता एवं परमात्मा के साथ हृदय के मधुर संबंध की अनुभूति अन्य संतों से अधिक गहरी थी। कहा जाता है कि जूते बनाते समय रैदास जी चमड़े पर टाकियाँ देते जाते थे और कोने में, पास ही रखी हुई ठाकुरजी की मूर्त्ति का स्मरण कर प्रेम-विह्वल, गद्गद् हृदय से भजन गाते जाते थे, आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा बहती जाती थी। यह तो विदित ही है कि कबीर, रैदास, आदि 'निर्गुणिये' संत मूलतः सिद्धान्त-रूप में मूर्त्ति-पूजा आदि न मानते हुए भी वैष्णव मत के थे और राम, गोपाल तथा हरि को संबोधित अपने प्रेम-मग्न हृदय की भूख-प्यास शान्त किया करते थे। कबीर ने तो कई स्थलों पर अपने को 'वैष्णों' कहा है तथा 'साकत' को 'कुतिया और सूअर' से भी बुरा माना है। कबीर की यह घृणा शाक्तों के प्रति न समझकर शाक्तों की हिंसा-वृत्ति के प्रति समझनी चाहिए। रैदास जी कबीर की भाँति अक्खड़ न थे। उनके जो थोड़े से पद मिले हैं उनमें आत्मानुभूति-पूर्ण हृदय की कोमल भावनाओं का ही उल्लेख है। रैदास जी मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे—

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विष्णु भगवान् की मूर्त्ति उनके घर में थी जिसकी वे अहर्निशि पूजा किया करते थे। रैदास जी कृष्ण, गोपाल, हरि, राम आदि को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानकर साधना की मधुर अनुभूति में लीन होनेवाले आत्मदर्शी संत थे। उन्होंने शाक्तों को गालियाँ नहीं दी हैं— ऐसा करने के लिए न उन्हें रुचि ही थी और न अवकाश ही।

रैदासका 'निर्गुण' कबीर का निर्गुण' नहीं है। रैदास का अद्वैत कबीर का अद्वैत नहीं है। रैदास हृदय की मधुर माँग को स्वीकर करनेवाले थे। प्रेम से ओत-प्रोत, भक्ति के विकसित रूप में हरि को ही सर्वत्र देखनेवाला, आत्मानुभूति के गहरे पुट में रँगा हुआ, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' को मानने वाला, 'सर्वभूतमयं हरि' के स्पर्श में आने वाला रैदास का कोमल हृदय प्रतिपल अपने 'प्रभुजी' के लिए बेचैन था, तड़प रहा था, तड़फड़ा रहा था!

मीरा इसी भावुक भक्त-संत की शिष्य थी। रैदास के चमार होने से मीरा के गुरु होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। श्री चैतन्यदेवजी ने कहा है—

किंवा न्यासी, किंवा विप्र, शूद्रकेन नय।
जे कृष्ण-तत्त्व वेत्ता सेई गुरू हय॥'

मीरा के दो तीन पदों में, 'मेरे गुरु रैदासजी' का उल्लेख है, साथ ही साथ एक 'जोगी' का भी वर्णन मिलता है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी बोई है। यह योगी स्वप्न में आए हुए श्रीगिरिधारी लालजी का अवधूत रूप हो सकता है अथवा रैदासजी या अन्य सन्त फकीर हो सकते हैं, जिससे मीरा को

प्रेम-साधना में सहायता प्राप्त हुई हो। इन पदों में से कुछ की बानगी लीजिए—

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मारि गुफा में बैठो, ध्यान हरी को लगायो।
मीरा को प्रभु हरि अविनासी, भाग लिखो सोइ पायो॥

तथा

जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाइं परूँ चेरी तेरी हौं।
प्रेम भगति के पैड़ो ही न्यारो, हम कूँ गैल बता जा।
अगर चंदण की चिता बनाऊँ अपने हाथ जला जा॥

× × . × ×

जावा दे, जावा दे जोगी किसका मीत।
सदा उदासि रहै मोरी सजनी निपट अटपटी रीति॥
मैं जाणूँ या पार निभैगी छांड़ि चले अधबीच॥

× × × ×

जोगियारी प्रीतड़ी है दुखड़ारो मूल।
हिलमिल बात बनावत मीठी पीछे जावत भूल॥ ..

× × × ×

जोगिया कहाँ गया नेहड़ी लगाय।
छोड़ गया बिसवास संघाती प्रेम की बाती बराय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्यो न जाइ॥

× × × ×

जोगिया जी निसदिन जोऊँ बाट। इत्यादि

उपर्युक्त पदों में 'आसण मारि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो' में स्पष्ट ही योगी गुरु का संकेत है, कृष्ण का नहीं।

क्या यह उस साधु के संबंध में तो नहीं है जिसकी पूजा में मीरा को श्रीगिरिधारीलालजी की मोहिनी मूर्त्ति प्राप्त हुई थी ? जो कुछ भी हो, इन पदों से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी साधु ने मीरा को प्रेम-साधना का मंत्र दिया और पता नहीं फिर वह कहाँ लोप हो गया। उससे मीरा फिर न मिल सकी। वह मीरा से न मिल सका। प्रेमाराधना की वही चिनगारी जिसे उस योगी अवधूत ने लगाई थी काल और परिस्थिति की अनुकूलता से इतने विराट् रूप में बढ़ी कि मीरा में 'दुई की बू' तक भी न रही और वह 'परदे नशीं' परदे से बाहर आ गया। खुदीका-मिटाना इसी को कहते हैं—

'न पा सकते जिसे पाबंद रहकर कैदे हस्ती में।
सो हम ने बेनिशां होकर तुझे ओ बेनिशाँ पाया॥'

—

रूपराग

कृष्ण के रूप में जो लावण्य है, जो मोहकता एवं आकर्षण है वह अन्य अवतारों में नहीं मिलता। यही कारण है कि कृष्ण-भक्ति शाखा में श्री कृष्ण के रूप का वर्णन बहुत ही विशद रूप में मिलता है। राम में माधुर्य है परंतु कृष्ण में लावण्य है। राम के हाथ में धनुष-बाण उनकी कर्त्तव्य-शीलता तथा दुष्ट-दलनता का ही परिचायक है और कृष्ण के हाथ में मुरली उनकी अगाध मोहकता, आनन्द-विधायिनी प्रेमोर्ज्जस्विता की परिचायिका है। 'कवितावली' के आरंभ में गोस्वामीजी ने रामचंद्र के बाल रूप के वर्णन में जो सात पद कहे हैं वे वस्तुतः अनमोल हैं। दशरथजी श्रीरामको गोद में लिये हुए हैं। शिशु राम के सुंदर मुखमंडल पर घुँघरारी लटें लटकी हुई हैं। छोटी-छोटी दो दो दँतुलियाँ दिखाई पड़ रही हैं। कपोलों पर कुंडल की

द्युति जगमगा रही है—हृदय सहज ही इस रूप-माधुरी पर निछावर हो जाता है।

एक बात तो अवश्य है कि इस रूप-चित्रण में माधुर्य्य एवं मोहकता का गहरा पुट होते हुए भी रूप के नाना विलास, शिशु राम के विविध क्रीड़ा-कौतुक का कोई संश्लिष्ट रूप हमारी आँखों के सम्मुख नहीं आता। हम तो गोद में के 'राम' को पैरों में पैंजनी और हाथों में पहुँची तथा 'पीत झँगा' में ही देख कर तृप्त नहीं हो जाते। कौशल्या के आँगन में दौड़ते हुए 'अरबराय करि पानि गहावत डगमगाय धरै पैयाँ' का रूप-विलास क्रीड़ा-कौतुक देखने के लिए उत्सुक-लालायित रह जाते हैं। सूरदास ने—सोभित कर नवनीत लिए।

'घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधिलेप किए' द्वारा बाल चापल्य एवं सहज नटखटी का जो संश्लिष्ट रूप हमारे सामने रखा है वह गोस्वामीजी में मिलना कठिन है। गोसाईंजी का दास्य भाव सदा ईश्वर को ही भावना किए हुए था। शिशु राम में भी 'स्वामित्व' की भावना ईश्वरत्व लिए हुए बनी हुई है। गोसाईंजी इस बालक राम के सम्मुख भी सिर नवाना ही पसंद करेंगे, उस निश्छल सौंदर्य्य पर मुग्ध होकर प्यार से चुम्बन लेना नहीं। उनका दास्यभाव सर्वत्र एवं सर्वदा अखण्ड रूप में बना रहा। इसी हेतु वात्सल्य एवं शृंगार में उनकी वृत्ति पूरी तरह रम न सकी। यही कारण है कि बालक राम के इस 'सोच विमोचन' रूप को देख कर न ठगे जाने वाले को 'खर, सूकर, स्वान' की उपाधि मिली।

मीरा का प्रेम माधुर्य-भाव का था। इसलिए कृष्ण की

लीलाओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया। सूर की उत्कृष्ट बाल-लीलाओं का मुख्य कारण उनका सख्य भाव ही है जो वात्सल्य से सटा हुआ है। पत्नी अपने पति के बाल रूप में लीन नहीं हुआ करती; उसे उसका प्रौढ़ युवा रूप ही अच्छा लगता है। दाम्पत्य-भाव में पति का बालरूप भी पति-रूप में आने के कारण युवा रूप ही प्रतीत होता है। पत्नी पति के शिशु या बाल-रूप को कौतूहल की दृष्टि से देखती है। दाम्पत्य रति बालक-बालिका की रति नहीं है, युवा-युवती की रति है। मीरा कृष्ण को जगा रही है—परंतु यह जगाना यशोदा का कृष्ण को अथवा कौशल्या का राम को जगाने के समान नहीं है। यहाँ पत्नी सोये हुए पति को जगा रही है—

> जागो बंसी वारे ललना जागो मेरे प्यारे।
> रजनी बीती, भोर भयो है, घर घर खुले किवारे॥
> गोपी दही-मथत सुनियत है कँगना के झनकारे॥

संगीत की मृदुल झंकार पर ध्यान दीजिए।

प्रभात हो चला है, गोपियाँ दही मथ रही हैं—उनके कँगनों की झनकार सुनाई पड़ रही है, घर-घर के द्वार खुल गये हैं। इस समय भी मीरा की सेज पर श्रीकृष्ण सो रहे हैं और द्वार बंद हैं। यह देख मीरा कुछ संकोच, कुछ व्रीड़ा के साथ जल्दी जल्दी अपने प्राणनाथ को जगा रही है, कि कहीं सखियाँ देखकर उसे चिढ़ावें न। बहुधा ऐसा होता भी है कि देर तक सोते हुए पति को पत्नी जल्दी-जल्दी इसलिए जगा देती है कि कहीं उनका देर तक सोना देखकर दूसरे तंग न करें, चिढ़ाने न लगें। उपर्युक्त पद में 'ललना' शब्द का अर्थ 'पति' है।

मीरा के कृष्ण एक सुंदर तथा परम मोहक प्रौढ़ युवा कृष्ण हैं। उनकी भावना मीरा ने यों की है—

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनी मूरत साँवरी सूरत नैना बने बिसाल।
अधर-सुधा-रस मुरली राजति उर बैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटि-तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतत सुखदाई, भगत बछल गोपाल॥

यही मूर्त्ति मीरा के हृदय में घर किये हुए है। यह छवि उसके रोम-रोम में उलझी हुई है, यही प्रेमामृत उसके हृदय में ओत-प्रोत है। हृदय में उलझी हुई उस बाँकी छवि की झाँकी लीजिए—

जब से मोहिं नंदनंदन दृष्टि पड़यो माई।
तब से परलोक लोक कछु ना सोहाई॥
मोहन की चंद-कला सीस मुकुट सोहै।
केसर की तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग-छौना॥
सुंदर अति नासिक सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेस धरे रूप अति विसेखा॥
अधर बिंब अरुण नैन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाड़िम द्युति चमके चपला-सी॥
छुद्र-घंटिका किंकिनि अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अंग अंग 'मीरा' बलि जाई॥

कृष्ण के इसी नटवर प्रौढ़ श्यामल स्वरूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को चढ़ाया है। 'अलंकार' वालों से यहाँ इतना निवेदन है कि यह 'रूप-राग' का विषय है, मीरा की 'काव्य-कला' का नहीं। अतएव 'रूपकातिशयोक्ति' एवं उत्प्रेक्षा दिखाकर मीरा की कविता पर धन्य धन्य अथवा वाह वाह कहने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। यहाँ अलकार स्वतः गौण है, रूप-विधान ही मुख्य है, भावना को तीव्र एवं कल्पना को सजीव बनाने के लिए ही ये अलंकार आए हैं। ऊपर के पद में कितनी सुंदर रूप-व्यंजना की उद्भावना हुई है। कुटिल भृकुटि, भाल पर केसर का चंदन और चितवन में टोना देख किसे लोक-परलोक की सुधि रहेगी? किसका हृदय बरबस इस रूप-सागर में डुबकी लेने के लिए व्याकुल न हो उठेगा? फिर वो इसमें डूबे हुए प्राण बाहर आना ही क्यों चाहेंगे?

मीरा का भाव-प्रवण साधक हृदय 'परम भाव' के लिए सर्वथा उपयुक्त था! उसे पुरुष बनना तो था नहीं। उसे 'माधुर्य भाव' उधार लेने की कोई आवश्यकता तो थी नहीं। वहाँ तो 'वासुदेवः सर्वमिति' 'सर्व-भूतमयं हरि' को हृदय में उतारने के सभी उपकरण विद्यमान थे ही, फिर मीरा को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई पुरुष वहाँ और कैसे दीख पड़ता? यह सारा संसार ही सखी-भाव में स्त्री-स्त्री हो रहा था, यदि कोई पुरुष था तो श्रीगिरिधारीलाल जी।

प्रेम का प्रारंभ, जिसे कवियों ने 'अनुराग' की संज्ञा दी है, विशेषतः, रूप के ही आकर्षण पर होता है। हृदय बरबस अरुझ जाता है। आँखों की खिड़की से प्रवेश कर हृदय में रूप का

टोना एक विचित्र हलचल मचाने लगता है। जी चाहता है कि वस चलता तो असंख्य नक्षत्र, अगाध समुद्र, मधुर उषा, समस्त संसार के अखिल सौंदर्य को अपने प्रेम के देवता के चरणोंमें चढ़ा देता। कविवर Yeats (इट्स) में भी यह भावना मिलती है। कवि का विवशता-पूर्ण कथन है—'ऐ मेरे प्रियतम ! यदि मेरे पास ये असंख्य नक्षत्र, अनन्त आकाश और उसपर बिछी हुई सतरंगी चादर होती तो तुम्हारे चरणों में निछावर कर देता, उसे ही बिछा देता, जिसपर तुम्हारे कोमल चरण पड़ते परन्तु—

But, Alas ! I am poor and have my dreams only
I have spread my dreams under Thy feet;
Tread softly, for Thou treadst on my dreams.

प्रेम की आँखों से देखने पर वही रूप कुछ और हो जाता है। इसीसे तो कहा है कि 'अल्लाह भी मजनूँ को लैला नजर आता है'। रूप की चोट सबसे करारी होती है। उसे वही समझ सकता है जो स्वयं घायल हो—

'जाके लगै सोई पै जाने प्रेम बान अनियारो'
'घायल की गति घायल जाने
कि जिन पीर लगाई होय।'

प्रेम-जन्य, आकर्षण-मूलक यह 'दर्द' ही तो प्रेमियों का एकमात्र सहारा है। प्रेम के इस 'दुःख' को दुःख भी तो नहीं कह सकते। जहाँ 'कुछ और' की कामना बनी रहती है वहाँ दुःख कैसा ? किसी अँग्रेज कवि ने ठीक ही कहा है, 'Love is a pleasant woe' अर्थात् प्रेम आनन्दमूलक वेदना है।

प्रेम की विकलता में पड़े हुए प्राणी भी तो इससे बाहर आना पसंद नहीं करेंगे—

"Love ! in what a prison is thy dart
Dipped when it makes a bleeding heart !
None know but they who feel the smart
—Druham

प्रेम की दारुण दशा भी प्रेमियों को सहारा ही देती है। किसीके रूप पर मुग्ध हुआ मन संसार में अपने प्रेम-पात्र के समान ढूँढ़ आता है; चंद्र, उषा, कमल, आदि सभी उसको उस परम रूप-शोभा के सम्मुख तुच्छ लगते हैं। उसकी यह आसक्ति ही, यह एकोन्मुखी वृत्ति ही आगे चलकर 'प्रेम' हो जाती है। रूप पर आसक्त हृदय रूप का पुजारी हो जाता है। अपने प्रेम-पात्र की आँख, कान, भौं, भुजाएँ, नासिका, कपोल, आदि पर से निछलती हुई उसकी दृष्टि, प्रिय का मिलना, हँसना, बातें करना, बैठना, सोना यहाँ तक कि रूठने में भी एक अपूर्व माधुरी का आस्वादन करता है। अनुराग अपने ही को प्रिय के सभी क्रिया-कलाप पर छिड़क देता है। इसी हेतु प्रिय के सभी कार्यों में उसे एक अपूर्व मादकता का रस मिलता है। मीरा का यह 'पूर्वानुराग' इसी प्रकार का है।

लीला-विहार

श्री चैतन्यप्रभु ने कीर्त्तन-विहार का जो प्रवाह चलाया उसमें, भगवान के रूप एवं लीलाओं का सम्यक् परिपाक होने के कारण, भक्तों ने अपने हृदय को पूर्णतः रम जाने दिया। इसमें प्रेम एवं आनन्द की जो स्रोतस्विनी उमड़ी वह जयदेव और विद्यापति के काव्य-कण्ठ से और भी प्रखर हो चली। संभोग-शृंगार का जो सूक्ष्म निदर्शन जयदेव और विद्यापति में हुआ वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी 'चन्दन चर्चित नील कलेवर पीत वसन वनमाली' तथा 'रति सुख सारे गतमभिसारे मदन मनोहर वेशं' को ही गा गा कर वैष्णव-सम्प्रदाय के महाभाववाले भावुक भक्त भावना में लीन हुआ करते हैं तथा अपने 'हृदयेश' का अविलंब अनुसरण किया करते हैं। इस रूप से आँखें अघाती ही नहीं, न हृदय जुड़ाता ही है। विद्यापति ने कहा है—

जनम जनम हम रूप निहारनु।
नयन न तिरिपित भेल ॥
लाख लाख जुग हियाय राखनु।
तवू हिया जुड़ ना गेल ॥
वचन अमिय अनुखण सूनलूँ।
श्रुतिपथ परस न भेल ॥
कत मधुयामिनि रभसे गोड़ायनु।
ना बूझनू कै छन केलि ॥

जन्म जन्म से हम उसे देखते आ रहे हैं फिर भी आँखें तृप्त न हुईं। लाख लाख युग से हमने उसे हृदय में रक्खा, तो भी हृदय जुड़ाया नहीं। रात-दिन उनकी बातें सुनीं फिर भी कानों ने अघाना न जाना। कितनी मधुर रातें उसके साथ काटीं परन्तु पता न चला कि कभी भी उसके साथ केलि की है। हृदय की प्यास कभी बुझती नहीं;—भीतर की ध्वनि पसीजती जाती है और मन की मिसरी घुलती जाती है, कभी हृदय अघाता नहीं—

निपट बंकट छबि अटके,
मेरे नैना निपट बंकट छबि अटके ॥

देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस-अटके ॥
टेढ़ी कटि, टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके।
'मीरा' प्रभु के रूप लुभानी गिरिधर नागर-नट के ॥

इस प्रकार टेढ़ी भौंहें, टेढ़ी कटि, टेढ़ी मुरली तथा टेढ़ी पाग वाले त्रिभंगी श्यामसुन्दर की छवि टेढ़ी होकर मीरा के हृदय में अटकी है।

या मोहन के रूप लुभानी।
सुंदर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी।
जमना के नीरे तीरे धेनु चरावैं बंसी में गावैं मीठी बानी॥
तन मन धन गिरधर पर वारूँ चरण कमल मीरा लपटानी॥

रूप की धूप में पड़ा हुआ मन कभी तो प्रभु जी के धेनु-चरावन में उलझता है और कभी वंशी की तान में। मीरा में लीला-विहार के हेतु वंशी तथा धेनु-चरावन ही मुख्य रूप से उद्दीपन रूप में आए हैं, गोपियों के साथ कृष्ण की क्रीड़ाएँ नहीं। इसका मुख्य कारण है कि मीरा की भक्ति परम भाव की थी और कोई भी पत्नी अपने पति का दूसरे किसी के साथ रमण करने की अप्रिय भावना को अपने भीतर स्थान नहीं दे सकती। मीरा का भाव एक सती साध्वी धर्मपत्नी का भाव है, रूप-मोहिता प्रेयसी का नहीं। हाँ विरह-वेदना में झुलसे हुए हृदय ने एक दो स्थलों पर 'खीझ'-भरे उपालंभ के वचन सुनाए हैं—

श्याम म्हासूँ ऐंडो डोले हो।
औरन सों खेले धमार, म्हासूँ मुखहूँ ना बोले हो॥
म्हारी गलियाँ ना फिरे, वाके आँगन डोले हो।
म्हारी अंगुली ना छुवे, वाकी बहियाँ मोरे हो॥
म्हारो अँचरा ना छुवे, वाको घूंघट खोले हो।
मीरा के प्रभु साँवरो, रंग रसिया डोले हो॥

अपने प्रेम-पात्र का प्रेमी की ओर निठुराई और दूसरों के प्रति रुझान को देखकर हृदय में गहरी टीस एवं कलक उठती है जिसका भाव-पूर्ण चित्र ऊपर के पद में है। परन्तु सती-साध्वी स्त्री तो पति के इस 'अनाचार' को भी सहती है और धैर्य्य धारण कर अपने को सान्त्वना देती है—

मीरा के प्रभु गहिर गंभीरा, सदा रहो जो धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण देहैं प्रेम-नदी के तीरा॥

परन्तु 'पिव के पलंग पर पौढ़ने' की उत्कट कामना तीव्र होती जाती है और मीरा निश्चय कर लेती है—

श्री गिरिधर आगे नाचूँगी।
नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाँचूँगी॥
लोक-लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी॥
पिय के पलंगा जा पौढूँगी 'मीरा' हरि रंग राचूँगी॥

लोक-लाज और प्रेम एक स्थान में दो खड्ग के समान साथ नहीं रह सकते, इसका प्रेमी साधकों को पूरा अनुभव रहता है। अपने प्राणनाथ के प्रति सच्ची रहनेवाली सती-साध्वी को संसार का क्या भय, लोक-लाज का क्या बंधन?

मैं अपने सैयाँ सँग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट ह्वै नाची।
दासी मीराँ लाल गिरिधर मिटी जग-हाँसी॥

जिस जीवनधन के बिना संसार सूना है, जिस एक रस के बिना विश्व के विविध रस नीरस एवं खारे हैं भला उसके साथ मिलने के लिये विलंब ही क्यों?

मैं तो साँवरे के रँग राची
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक लाज तजि नाची।
छण पिया सब जग खारो लागत और बात सब काची॥
मीराँ श्री गिरिधर न लाल सूँ भगति रसीली जाँची॥

जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि वैष्णव कवियों में संभोग शृंगार का जो विशद वर्णन मिलता है वह मीरा में खोजे भी न मिलेगा। 'कुल की कानि' तथा 'लोक की लाज' तो केवल

श्री गिरिधारी लाल के चरणों में सर्वात्म-समर्पण के लिये ही छोड़ी थी, स्त्री-सुलभ आत्म-गोपन का भाव तो बना ही रहेगा। शृंगार के सुखद संभोग का वर्णन कौन कहे मिलन के स्वाभाविक सुख का जहाँ कहीं व्यंग्य है भी, उसमें आलिंगन, चुंबन, परिरम्भन आदि का नाम नहीं है। मिलन के आनंद को हृदय की प्रेमातिरेक प्रफुल्लता द्वारा ही मीरा ने प्रगट किया है। सात्विक लक्षणों का भी कम उल्लेख है। रोमांच, वैवर्ण्य, प्रकंप, प्रस्वेद आदि के बहुत ही हलके चित्र मिलते हैं, उनका विशद चित्रण करना मीरा के लजीले हृदय को स्वीकार न था। वैष्णव कवियों में गोपियों के विरहानल का वर्णन विशेष रूप में मिलता है और वे गोपियों की विरह-वेदना द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करते हैं। गोपियों की स्थिति में अपने को रखकर विरह की तीक्ष्णता को अनुभव एवं व्यक्त करने में उन्हें कुछ सुगमता हो जाती है।

मीरा का प्रेम मन-बहलाव का एक साधन मात्र नहीं रहा। वह तो स्वयं उसीमें घुल गई। जैसे दूध में मिश्री, जल में नमक। वह हमारे सम्मुख एक प्रेयसी के रूप में नहीं आती, प्रत्युत् एक सती साध्वी भक्ति-विह्वला, प्रेम परायण धर्म-पत्नी के रूप में ही आती है, जिसने अपनी सारी आकांक्षा, सारी अभिलाषा को श्री कृष्णार्पण कर दिया है। इसी हेतु उसे गोपियों को अपने और हरि के बीच मध्यस्थ बनाने की आवश्यकता न पड़ी।

मीरा का मिलन राधा और कृष्ण का मिलन नहीं है, स्वतः मीरा और कृष्ण का मिलन है। ऐसे मिलन में मध्यस्थ की न कोई आवश्यकता ही है और न गुंजाइश ही। मीरा को तो अपने को राधा या गोपी के व्याज से तादात्म्य-भावना करनी

नहीं थी, इसी हेतु 'गोपी मोहन' 'राधा-वल्लभ' आदि भाव में स्मरण न करके मीरा ने श्यामसुन्दर तथा गिरधारी लाल के रूप में ही श्रीकृष्ण को स्मरण किया है। इसी हेतु अपनी भावना को तीव्र करने के लिये वह अपनी निजी वेदना को ही उँड़ेलती है न कि कृष्ण के विरह में गोपियों की वेदना को। कोई भी साध्वी पत्नी इस विचार को अपने मन में आने न देगी कि उसका पति किसी अन्य स्त्री से प्रेम करता है। इसी हेतु ऊपर कहा जा चुका है कि मीरा का प्रेम एवं प्रेमजन्य वेदना उधार ली हुई या उखाड़ी हुई नहीं है, वह तो भक्ति विह्वल आतुर हृदय की परम पावन पुकार है जिसमें संसार से आँख मूँद कर अपने प्राणाधार की सजीव मूर्ति केलि कर रही है। मीरा का प्रेमोत्सर्ग पूर्ण जीवन स्वत्व समर्पण का एक अविच्छिन्न संगीत है, अविरल पीयूष-प्रवाह है। मीरा का प्रेम भक्ति का निखरा हुआ सुव्यवस्थित, सुविकसित स्वरूप है। मीरा की भक्ति हृदय की मूक वेदना है जो अपने 'पूरब जनम के साथी' के लिए उसके हृदय के कोने कोने को झुलसा रही है।

प्रफुल्ल-प्रेम

श्री रूप गोस्वामी ने 'भक्ति-रसामृत-सिंधु' में प्रेम के क्रमिक विकास का वर्णन यों किया है।—

आदौ श्रद्धा, ततः संग स्ततोऽथ भजन-क्रिया।
ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भाव स्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

श्रद्धा, संग, भजन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि और आसक्ति का क्रम विकास होते होते 'भाव' का उदय होता है। यह 'भाव' ही, प्रेम-पात्र के प्रति हृदय की यह रुझान ही प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था है—'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव'। चारों ओर से हृदय सिमट कर प्रेम-पात्र में ढल जाता है। इस 'भाव' का स्वरूप मीरा में देखिये —

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई॥
भगत देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
अँसुवन-जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई॥
अब तो बात फैलि पड़ी जाणैं सब कोई।
मीरा प्रभ लगण लागी होनी होय सो होई॥

'होनी होय सो होई' कहकर संसार को ललकारनेवाली अपने उपास्य देव में अनन्य निष्ठा धन्य है?

और प्रेम-साधक की 'इच्छा' क्या है?

म्हाने चाकर राखो जी।
गिरधारी लाला चाकर राखो जी॥
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठि दरसण पासूँ।
वृंदावन की कुंज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ॥
मोर-मुकुट पीतांबर सोहै गल बैजंती माला।
वृन्दावन में धेनु चरावै मोहन मुरली वाला॥
× × × ×
ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी।
साँवरिया के दरसण पाऊँ पहिर कुसुंमी सारी॥*

---

* रवीन्द्र के 'Gardener' की भी कुछ ऐसी ही इच्छा है—

Servant—Make me the gardener of your flower garden.

Queen.—What folly is this?

Servant—I will give up my other work × × × Do not send me to distant courts, do not bid me undertake new conquests, but make me the gardener of your flower-garden.

Queen—What will your duties be?

वस्तुतः 'साहचर्य्य' का सुख सबसे बड़ा सुख है और जिस किसी प्रकार, सेवा करने और उस परम-रूप की शोभा निरखते रहने का आनन्द ही सर्व्वोच्च परम आनन्द है। यह भाव प्रायः सभी संत-भक्त-प्रेमी कवियों ने प्रकट किया है। एक ग्रामीण नायिका के 'साहचर्य्य'—सुख का उल्लास-पूर्ण वर्णन देखिये—

'आगि लागि घर जरि गा बड़ सुख कीन्ह।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन्ह॥'

प्रेम पात्रपर उत्सर्ग होकर संसार की ओर देखने के लिये क्या धरा है और फिर 'होनी हो सो होई' की क्या चिन्ता? जो कुछ होगा, हो रहा है अथवा हुआ है सभी श्री कृष्णार्पण हो चुका। सूरदासजी कहते हैं—

अब हमरे जिय बैठ्यो यह पद 'होनी होइ सो होऊ'।
मिटि गयो मान परेखो ऊधो हृदय हतो सो होऊ'॥

Servant—The service of your idle days. I will keep fresh the grassy path where you walk in the morning. I will swing you in a swing among the branches of the 'Sapta Parna' when the early evening moon will struggle to kiss your skirt through the leaves × × × × × ×.

Queen:—What will you have for your reward?

Servant:—To be allowed to tinge the soles of your feet and kiss away the speck of dust that chance to linger there. To be allowed to hold your little fists like tender lotus-buds and slip flower-chains over your wrists.'

Queen:—Your prayers are granted, my servant, you will be the gardener of my flower-garden.

सर्वात्म समर्पण कर चुकने पर भी, अपने को दे चुकने पर भी, हृदय को चढ़ा चुकने पर भी जी की कलक बनी रहती है और हृदय-देवता के चरणों में लोट पोट होकर तृप्त नहीं हो पाता—

आली रे मेरे नैनन बान पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरति उर बिच आन पड़ी।
कैसे प्राण पिया बिन राखों जीवन मूल जड़ी॥
मीरा गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी॥

लोग 'बिगड़ी' कहें या 'बनी'—प्रेम का उन्माद तो भीतर ही भीतर व्याप्त होता जा रहा है, सारी सुध-बुध खो गई है, अपने तन-मन का भान नहीं है।

भक्तवर सूरदासजी अपनी 'विवशता' यों प्रकट करते हैं—

अब तो प्रगट भई जग जानी।
वा मोहन सों प्रीति निरंतर नाहिं रहेगी छानी॥
कहाँ करों सुन्दर मूरत इन नैनन माँझ समानी।
निकसत नाहिं बहुत पचि हारी रोम रोम उरझानी॥
अब कैसे निरवार जात है मिले दूध ज्यों पानी।
'सूरदास' प्रभु अंतरजामी ग्वालिन मन की जानी॥

इस प्रेम के फंदे से निकलना असम्भव है। वह सुंदर मूर्त्ति रोम में उलझ गई है, निकाले नहीं निकलती। प्रेम के कच्चे धागे में बाँधकर 'वह' अपनी मनमानी कर रहा है।—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे मन लागी कटारी प्रेमनी रे।
जल जमुनाँ माँ भरवा गया ताँ हती गागर माथे हेमनी रे॥
काँचे ते ताँत ने हरी जी बाँधी, जेम खेंचे ते में मनी रे।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर साँवली सूरत सुभाए मनी रे॥

उधर भक्त प्रभुजी से मिलने की व्याकुलता में मग्न रहता है इधर हृदय के सभी कल्मष धुलते जाते हैं। अपनी ओर जब कभी ध्यान जाता है, अपनी त्रुटियों का जब कभी स्मरण हो आता है तो हृदय ग्लानि से भर जाता है। यह 'आत्म-ग्लानि' ही भक्तों का भूषण है। 'मैं मैली पिउ उजरा, मिलणा कैसे होय' का भाव प्रायः सभी निर्गुण सन्तों एवं सगुण भक्तों में रहा है। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' जैसे ग्लानि-पूर्ण भावों से 'विनय पत्रिका' भरी पड़ी है। सूर, कबीर, दादू, जायसी आदि सभी मत सम्प्रदाय के भक्त संतों ने इस शुद्ध सात्विक आत्म-ग्लानि में हृदय को डुबा-डुबाकर पवित्र किया है।

आत्म-निरीक्षण का यह पथ बहुत ही पावन है। मीराबाई में ऐसे वचन का बस एक ही पद है। मीरा को अपनी ओर, अपनी त्रुटियों, अपराधों की ओर, सर्वात्म-श्री कृष्णार्पण हो चुकने पर, देखने का न अवकाश ही है न आवश्यकता ही। प्रेमोन्माद के प्रखर प्रवाह में अपनी ओर देखने का समय ही कहाँ? फिर भी—

यहि विधि भक्ति कैसे होय,
मन की मैल हिये ते न छूटी, दिया तिलक सिर धोय॥
काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चांडाल।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल॥

इस प्रकार, इस पद में 'मेरो मन हरि जू हठ न तजै' 'कौन जतन विनती करिये' तथा 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' का भाव पूर्ण रूप से सन्निहित है।

हमारा उसका मिलन प्रति पल, प्रति क्षण हो रहा है। संसार की प्रत्येक वस्तु में, जगत के सभी व्यापारों में हमारा उसका महामिलन हो रहा है। वह हमारे बिना, हम उसके बिना व्याकुल हैं। जिस प्रकार पति का प्रेम, सौन्दर्य्य तथा आनन्द पत्नी को ही पाकर निखरता है उसी प्रकार पत्नी का रूप-लावण्य भी पति को ही पाकर खिल उठता है। पति पत्नी के बिना और पत्नी पति के बिना अपूर्ण हैं। इधर से 'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' है तो उधर से 'प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता' है।

इस मधुर व्याकुलता को तीन प्रकार से व्यक्त किया गया है। (१) गाय और बछड़े का सम्बन्ध (२) बन्दरी और उसके बच्चे का संबंध (३) बिल्ली और उसके बच्चे का संबंध।

(१) स्तन-पान करने की जितनी तीव्र लालसा बछड़े के हृदय में होती है उतनी ही गाय के हृदय में पिलाने की भी। बछड़ा पिये बिना नहीं रह सकता, गाय पिलाये बिना।

(२) बन्दरी चाहती है कि उसका बच्चा कष्टों में न पड़े। इस हेतु वह बच्चे को अपने पेट में सटाकर ढोने के लिए भी तैय्यार है यदि बच्चा उसके पेट में सट जाय, अपनी ओर से तनिक भी शरणोन्मुख हो जाय।

(३) बिल्ली अपने बच्चे को कष्ट की संभावना-मात्र से ही अपने दाँतों को उसकी गर्दन में चुभाकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आती है। बच्चा अपनी ओर से प्रयास करे या न करे इसकी ओर वह नहीं देखती।

इसमें पहले में ब्रह्म और आत्मा की पारस्परिक उत्कण्ठा,

दूसरे में आत्मा की प्रथम चेष्टा तथा तीसरे में ब्रह्म की एक मात्र चेष्टा व्यंग्य है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्गुण संतों ने पहली भावना तथा सगुण भक्तों ने दूसरी तथा तीसरी भावना को अपने भीतर प्रतिष्ठापित किया है। मीरा की भावना तीसरे प्रकार की थी—अर्थात् उसका दृढ़ विश्वास था कि उसके सुख-दुख आदि की चिन्ता 'भगत वछल गोपाल' पर है और उसे 'वह' 'भीर' में रहने नहीं दे सकता।

हरि तुम हरो जन की भीर !
द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर !

इसीको भक्तवर सूरदासजी यों व्यक्त करते हैं—

लज्जा मेरी राखो श्याम हरी।
कीनी कठिन दुःशासन मोसे गहि केशों पकरी॥
आगे सभा दुष्ट दुर्योधन चाहत नग्न करी।
पाँचो पाण्डव सब बल हारे तिन सों कछु ना सरी॥
भीष्म द्रोण विदुर भये विस्मय तिन सब मौन धरी।
अब नहिं मात पिता सुत बाँधव, एक टेक तुम्हरी॥

यह दृढ़ विश्वास ही भक्तों का सहारा है। इसी विश्वास पर वे अपनी 'पाथर बोझी नाव' तूफान होते हुए भी 'मँझधार' में डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं। जब पतवार प्रभुजी के हाथ है तो तूफान एवं लहरों का क्या भय ?

और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनूँ लोक मँझार।
आप बिना मोंहि कछु ना सुहावै निरख्यो सब संसार॥

प्रेम में डूबा हुआ हृदय संसार में चारों ओर दृष्टि दौड़ाता है परन्तु अपने प्रेम-पात्र के ऐसा उसे कहीं कुछ भी जँचता

ही नहीं। सर्वत्र, सभी कुछ 'वही वह', बस वही एक 'जल्व' रह जाता है।

'अनहद', 'सुन्न महल', 'सुरत', 'साहिब' का प्रभाव भी मीरा पर पड़े बिना न रहा। 'नाथ पंथ' का प्रभाव संयुक्त-प्रान्त से एक प्रकार से लोप हो चला था परन्तु राजस्थान में वह खूब फैला। उधर उत्तर-पश्चिम से सिंध प्रान्त से जो सूफी देखा आ रही थी उसमें हठयोग के ये स्थूल रूप भी प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे। कबीर पंथ में तो हठयोग पीछे एक प्रकार से आधारभूत होकर चला। सगुण भक्तों को उस ओर देखने की आवश्यकता न पड़ी। उनका 'शून्य' महल सदैव प्रीतम की प्रेम-मूर्ति से भरा था। सूफियों ने भी इसे गौण रूप में ही अपनाया। मीरा में 'नाथ पंथ' की, जो राजस्थान में खूब फैला था, एक हल्की लहर मिलती है—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ।
इन नैनन मोरा साहब बसता डरती पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बार-बार बलि जाऊँ री॥

एक और स्थान पर मीरा के ऐसे ही भाव मिलते हैं—

बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे।
बिनु सुर राग छतीसूँ गावै रोम रोम रँग सार रे॥
उड़त गुलाल लाल भये बादल बरसत रंग अपार रे।

उपर्युक्त दोनों पद निर्गुण राग में हैं और 'मीरा की शब्दावली' में संगृहीत हैं। पता नहीं कहाँ तक ये मीरा के

स्वरचित हैं। यदि इन्हें मीरा का मान भी लिया जाय तो यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें मीरा का प्रेम-प्रवण हृदय लिपटा हुआ प्रतिध्वनित नहीं होता, इसमें युग-प्रवाह की एक हलकी लहर है जो सिंध से सीधे प्रवाहित हो रही थी।

विरह-वेदना

मिलन और विरह के बीच प्रेम का पहाड़ी सोता स्वच्छन्द गति से बहता चला जाता है। मिलन का रस हलका और विरह का गाढ़ा होता है। मिलन में प्रेम का प्रवाह कुछ मंद पड़ जाता है परन्तु विरह में तीव्र हो जाता है। मिलन का सुख क्षणिक एवं अस्थिर है, विरह का दुःख (इसे 'दुःख' ही कहा जाय ?) स्थायी एवं स्थिर होता है। मिलन हमारे जीवन की सतह को छूता है, परन्तु विरह हमारे अन्तस् के सभी तारों को झंकृत कर देता है। भवभूति ने 'एको रसः करुण एव' तथा शैली (Shelley) ने, 'Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts' और पन्त जी ने—

'वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान।'

द्वारा इसी बात का संकेत किया है। वस्तुतः सुख की अपेक्षा दुःख का प्रभाव हमारे हृदय पर अधिक काल तक रहता है। सुख में हम उतराते और दुःख में डूब जाते हैं। सुख में हम अपने से बाहर परन्तु दुःख में अपने भीतर चले जाते हैं। सुख हमें हलका और दुःख गंभीर बना देता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी किसी कविता में कहा है कि मेरे भीतर कोई विरहणी नारी है जो अपने दुःख का, 'विरह-वेदना' का, गीत सुनाया करती है। प्रत्येक कलाकार के भीतर एक विरह-विह्वल नारी-हृदय तड़पता हुआ होता है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है। अधरों पर की क्षणिक मुसकान के भीतर से मृत्यु जो अपना संदेसा दे रही है, एक क्षण के लिए मिलकर जो हम अनन्त काल के लिए विरहाग्नि में जलने-तपने के लिए छोड़ दिये गये हैं, सुख की इस अस्थिर छाया के भीतर दुःख का जो अक्षय उत्ताप हिल-डुल रहा है वही जीवन का सच्चा रस है, कला का मूल प्राण है। इसी अभिशप्त जीवन का रेखा-चित्र काव्य की परमोत्कृष्ट व्यंजना है। आदि कवि का शोक 'श्लोकत्व' में परिणत हो गया। प्रेम के विष-बुझे बाणों से वेधकर आश्रम की उस अल्हड़ ऋषि-कन्या शकुन्तला को अभिशाप का बहाना कर गर्भवती हो चुकने पर प्रत्याख्यान! भगवान् मरीच के आश्रम में वह तप-परायणा धृतैक वेणी खिन्नमना शकुन्तला! अग्नि-परीक्षा दे चुकने पर भी अनिश्चित काल के लिए सीता का निर्वासन! स्त्री-सुलभ प्रकृति के कारण उत्सुकता-पूर्ण प्रश्न पर महासती पार्वती का परित्याग! फिर भी—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृत गति है और सुषुप्ति मिलन है॥

हिन्दी-साहित्य में विरह के सर्वोत्कृष्ट कवि जायसी हुए। वे समस्त चराचर को उस परम प्रेम में व्याकुल देखते हैं—

'इस धानन्द अस को जे न मरा
वेधि रहा सगरो संसारा'

और उनका सबसे बड़ा रोना भी यही है—

'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
कोरे मिलाय कहाँ केहि रोई॥'

सीता के विरह में राम का कलपना तथा कृष्ण के लिए गोपियों का तड़पना अवश्य ही हृदय के मर्म-स्पर्शी तन्तुओं को आंदोलित कर देनेवाले हैं। राम के विरह में वेदना का जो उभार है वह गोपियों के विरह से अधिक संयत एवं लोक-संग्रही है। सीता ने हनुमान से इतना ही न पूछा था 'कबहुँक सुरति करत रघुनायक ?' भरत का भी हनुमान से कुछ ऐसा ही प्रश्न था। 'कोमल चित कृपालु रघुराई। सो केहि हेतु धरी निठुराई' में कितनी मर्म-स्पर्शिणी भाव-व्यंजना है। सूर की गोपियाँ तो प्रकृति के हास-विलास में अपने विरह का ही चित्र देखती हैं। हरे-भरे मधु-वन पर सात्विक 'खीफ' की उनकी कैसी सुन्दर उक्ति है—

मधुवन तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

सूर का विरह-वर्णन गोस्वामीजी के विरह-वर्णन से अधिक व्यापक है परन्तु इन दोनों से बढ़कर है। जायसी का विरह-वर्णन. इन विरह-वर्णनों में इन कवियों ने अपने हृदय में अनुभव किये हुए प्रभुजी के विरह का थोड़ा-बहुत संकेत

किया है। 'कथाच्छलेन' अपनी विरह-कहानी कही है। परन्तु विरह के ऊपर कहानी की चादर पड़ी हुई है, और से जायसी की चादर बहुत ही झीनी है। जिस के भीतर से विरह में तड़पते हुए प्रेमोन्माद-पूर्ण भावुक कवि के विरह-विधुर हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है।

मीरा का विरह-वर्णन, विरह-वर्णन के लिए नहीं है। अपने प्राण-वल्लभ के लिए हृदय में अनुभव की हुई टीस को 'प्रेम लपेटे अटपटे' छंदों में अल्हड़ प्रेम-साधक मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हलका किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेम-विह्वल साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुःख है, कवि का दुःख नहीं। मीरा अपने ही विरह को अपने भोले-भाले गीले शब्दों में सुना रही है, उसके हाथ में न गोपियाँ हैं, न सीता, न पद्मावती और न नागमती ही। मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है।

मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम। उसमें प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिन्ता ही है और न अवकाश ही। मीरा का विरह उस स्त्री के विरह के समान है जिसका पति एक क्षण स्वप्न में मिलकर, अधरों पर चुंवन का दाग छोड़ कर सदा के लिए, कभी भी न लौटने के लिए परदेस चला गया हो। तथा जिसे अपनी प्रियतमा की सुध लेने की भी सुधि नहीं है। जब-जब मेघ घिर आते हैं और रिमझिम बूँदें बरसने लगती हैं तब-तब साजन की सुध हरी हो आती है, ताजी हो जाती है और हृदय डँवाडोल हो उठता है। फागुन में जब-जब सखियाँ धमाचौकड़ी मचाने

लगती हैं, रंगरलियाँ करने लगती हैं, और प्रीतम से मिलने की तैय्यारी करने लगती हैं उस समय मीरा के हृदय में अपने परदेसी' के लिए एक गहरी व्यथा उमड़ आती है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है; उत्सर्ग का, प्रेम की वेदीपर सर्वस्व-समर्पण का एक सर्वोत्कृष्ट ज्वलन्त उदाहरण है। शब्दों में उस दुःख को नापा नहीं जा सकता, वह केवल अनुभवगम्य है। मीरा के अधिकांश पद विरह-वेदनात्मक ही हैं। मीरा के विरह-पदों में उसका हृदय लिपटा हुआ दृष्टिगोचर होता है। मीरा की विरह-दशा की उद्योप्ति तीन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुई है। स्वप्न में एक क्षण के लिए मिलकर 'वह' सदा के लिये चला गया और कभी लौटने की कौन कहे, सुध लेने की भी उसने कृपा न की। मीरा के विरह का प्रधान स्वरूप यही है। सावन भादों के महीने प्रोषित-पतिकाओं के लिये बड़े ही दुरुह तथा विरहोत्तेजक होते हैं। मेघों का गरजना, बिजली का कौंधना हृदय को कँपा देता है। मिलन की वासना उस समय अत्यन्त तीव्र हो जाती है। उस समय का एकान्त बहुत खलता है।

मधुमास में पति का परदेस रहना तो और भी दुखदाई होता है। विशेषतः जब मलय की झकोर में हृदय के सभी कोमल तन्तु हिल उठते हों और पास की सखियाँ क्रीड़ा-केलि में निरत हों। दूसरों का उल्लास हमारे विषाद को अत्यधिक तीव्रकर देता है। इन्हीं तीन अवस्थाओं में मीरा की विरह-व्यंजना हुई है।

विरहणी को पति का प्रवास इसलिए अधिक खलता है कि उसकी हमजोली सखियाँ अपने अपने पति के साथ रास-रंग में क्रीड़ाकर रही हैं और वह इस प्रकार अकेले रात काट रही है।

दिन में तो मन वहल भी जाता है परन्तु रात तो प्रलयंकरी होती है, काटे नहीं कटती—

मैं विरहिन बैठी जागूँ जगत सब सोवे री आली।
विरहिन बैठी रंग महल में मोतियन की लड़ पोवे।
इक विरहिन हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवे॥
तारा गिण गिण रैण विहानों सुख की घड़ी कब आवे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलिके विछुड़न पावे॥

यह भूल न जाना चाहिये कि प्रेम की यह 'पीर' आनन्द-मूलक है एवं आनन्द-विधायक भी है। प्रेमी इसमें से निकलना नहीं चाहता। अश्रु-धारा की तह में आनन्द की रेखाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं। विरह में आनन्द लुप्त नहीं हो जाता, केवल 'आवृत' रहता है। मिलन की जो उत्सुकता है, जो मंगलाशा है वह आनन्दमय है और स्वयं प्रेम का बहुत ही निखरा हुआ भाव है। पति का परदेस हृदय को बहुत सालता है और घर-आँगन कुछ भी नहीं सुहाता। सभी काटने दौड़ते हैं—

तुम देख्या विन कल ना पड़त है ग्रिह आँगणो न सुहाई रे।
तुम्हरे कारण सब सुख छाड्या अब मोहि क्यूँ तरसावे हो॥

हृदय की विकलता बढ़ जाती है, 'प्रतीक्षा' तीव्र हो उठती है—

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उरमें जागी री।
तलफत तलफत कल ना परत है विरह बाँन उर लागी री॥
निसिदिन पंथ निहारूँ पिव को पलक न पल भर लागी री।
पीव पीव मैं रटूँ रात दिन दूजी सुधि बुधि भागी री॥
विरह भुवंग मेरो डस्यो है कलेजो लहरि हलाहल जागी री।

मेरी आरति मेटि गोसाईं आइ मिली मोहि सागी री।
'मीरा' व्याकुल अति अकुलाणी तिया की उमंग अति लागी री॥

'विरह भुवंगम' से डसे हुए हृदय की 'कामना' भी तो देखिए। यह तो बस एक बार अपने 'प्राण वल्लभ' को भर आँख देखना ही चाहता है—

पिया म्हारे नैना आगे रहो जी।
नैणा आगे रहो जी म्हाने भूल मत जाज्यो जी।

कभी कभी तो प्रिय की सुधि पा जाना ही संतोष के लिये पर्य्याप्त हो जाता है। 'प्रिय-प्रवास' की ये पंक्तियाँ देखिये—

प्यारे आवें मिय बैन कहें, मोद से कंठ लेवें।
ठंडे होवें नयन, दुख हो दूर, मैं मोद पाऊँ॥
ये भाव हैं हिय-तल के और ये भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें॥

सबसे बड़ी विपद् तो यह है कि पिय का 'देस' भी जाना हुआ नहीं है—न वहाँ पहुँचने का रास्ता ही मालूम है—यदि आगे बढ़ने का जी चाहता भी है तो फिसलन और निविड़ अंधकार—

गली तो चारों बंद हुई हरी सूँ मिलूँ कैसे जाय!
ऊँची नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।
सोच सोच पग धरूँ जतन से बार बार डिग जाय।

इस में 'ऊँची गैल राह रपटीली, पैर नहीं ठहराय' की ध्वनि स्पष्ट है। दुनिया इस वेदना का महत्व क्या समझे?

हेरी मैं तो प्रेम-दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध मिलणा होय॥
घायल की गति घायल जानै कि जिन लाई होय।

दरद की मारी वन वन डोलूँ वैद मिल्या नहिं कोय ॥
मीरा के प्रभु पीर मिटैगी जब वैद साँवलिया होय ॥

इस 'दर्दये इश्क़' की दवा भी दीदार ही है। भावों को तीव्र करने के लिए तथा अपनी साधना को अटल करने के लिए भक्त लोग भिन्न-भिन्न भावनाओं एवं संबंधों को सामने ला-लाकर भाव-मग्न हुआ करते हैं। मीरा ने अपने विरह की तीव्रता को मीन, चातक, चकोर पपैया द्वारा व्यक्त किया है। मछली का आधार ही जल है, वह उसके बिना जी ही नहीं सकती—

'जैसे जल के सोखे मीन क्या जीवें बिचारे'। यही गति पपीहा और चकोर की भी है, उन्हें अपने प्राण धन के अतिरिक्त संसार की कोई भी वस्तु सुख नहीं पहुँचा सकती, तृप्त नहीं कर सकती।

जायसी की भावुकता, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बहुत ही गहरी एवं व्यापक थी और प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों में बिखरी पड़ी थी। 'बारह मासे' और 'षड् ऋतु' के वर्णन में प्रकृति के साथ कवि का कितना गहरा संबंध झलकता है, अपने अन्तस् के प्रतिबिम्ब को प्रकृति में स्थापित करके जायसी ने कितनी सुन्दर भाव-व्यंजना की है—

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागै केहि के डार ॥

तथा

पहल पहल तन रुई झाँपै, हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै।

विरहिणी गोपियों के 'मधुवन! तुम कस रहत हरे!' में कितना गंभीर व्यंग्य है। सूरदासजी का विरह-वर्णन जायसी के

समान गंभीर भले ही न हो परन्तु व्यापक कम नहीं है। पपीहे आदि को गोपियों ने खूब सुनाया है—

हौं तो मोहन के विरह जरो रे! तू कत जारत?
रे पापी तू पंखि पपीहा! पिउ पिउ पिउ अधि रात पुकारत।

नागमती का रोना सुनकर तो घोसलों में बैठे हुये पक्षियों की नींद हराम हो गई है—

'तू फिरि फिरि दाहे सब पाँखी,
केहि दुःख रैनि न लावसि आँखी।

मीरा पपीहे को उपालंभ देती है—

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितारयो
मैं सूती छी अपने भवन में पिय पिय करत पुकारयो।
दाध्या ऊपर लूण लगायो हियड़े करवत सारयो।

विरह से तो हृदय यों ही जला हुआ है उस पर पपीहा 'पी कहाँ पी कहाँ' से नमक छिड़क रहा है। इस पर जले हुए हृदय की 'खीझ' देखिए—

पपइया रे पिव की वाणि न बोल।
सुणि पावे ली विरहिणी रे थारो राळे ली पाँख मरोड़।
चोंच कटाऊँ पपइया रे ऊपरि कालर लूण॥

वही पपीहा 'मिलन' में सुखद हो जाता है, उसकी बोली मीठी लगती है—

थारा सबद सुहावणा रे जो पिय मेला आज।
चोंच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे तू मेरे सिरताज॥

भक्तवर सूरदासजी ने भी तो 'बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारे'-द्वारा, सुखद मिलन के समय, प्रतिकूल का अनुकूल हो जाना माना है। अस्तु

एक पल भी पति के बिना जीना कठिन हो गया है—

सजन सुध ज्यों जाने त्यों लीजै।
तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजे॥
दिवस न भूख रैनि नहिं निंदिया यों तनु पलपल छीजे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलि बिछुरत नहि दीजे॥

कबीरदास भी अपनी विरह-वेदना कुछ ऐसे ही व्यक्त करते हैं—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया तड़फ २ के भोर किया।
तन मन मोर रहट अस डोलै सूनि सेज पर जनम छिया॥
नैन थकित भये पंथ न सूझै साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुःख जोर किया॥

प्रकृति का जो अनुपम शृंगार है वह 'प्रीतम' के आगमन की तैय्यारी में है—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज।
उमंग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै दामिणि छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलाण के काज॥

सावन की रात विरहिणियों के लिये मरणान्तक होती है—सूरदासजी ने भी 'पिया बिनु साँपिनि कारी रात'-द्वारा वेदना की तीव्रता दिखाई है। रिमझिम बूँदें बरस रही हैं, इधर मीरा रो रही है—

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी।
जित जाऊँ तित पानिहिं पानी हुई सब भोम हरी।
जा का पिव परदेस बसत है भीजै बार खरी।

यह सुहावना सावन पिया के बिना आग की वर्षा करता दीखता है—

मतवारो बादल आयो रे हरि के संदेसो कछु नहिं लायो रे।
फूँके काली नाग विरह की जारी मीरा हरि मन आयो रे।

इन्हीं बूँदों से मिलन के समय मीरा धीरे-धीरे बरसने की विनती करती है—

मेहा बरसवो करे रे आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्हीं नान्हीं बूँदे मेघ घन बरसे सूखे सरवर भरें रे॥
बहुत दिना पर प्रीतम पाए बिछुरन को मोहि डर रे।
मीरा कहे अति नेह जुड़ायो मैं लियो पुरबलो वर रे॥

'पुरबलो वर' के विषय में पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि मीरा पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण की सखी थी।

सावन भादों में मिलन की जो उत्सुकता होती है उससे भी बढ़कर फागुन में होती है। सारी वसुंधरा बसंती साड़ी पहन कर अपूर्व साज सजाती है और सर्वत्र मिलन का एक अपूर्व वातावरण फैला रहता है—सभी सखियाँ शृंगार कर अपने 'प्रीतम' से मिल रही हैं और मीरा का घायल हृदय छटपटा उठता है—

किण संग खेलूँ होरी पिया तजि गये हैं अकेली।
बहुत दिन बीते अजहुँ नहिं आये लग रही ताला बेली।
श्याम बिना जियड़ो मुरझावे जैसे जल बिन बेली॥

तथा

होली पिया बिनु मोहि न भावै घर अँगणा न सुहावै।
दीपक जोय कहाँ करूँ हेली पिय परदेस रहावै।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै सुसक सुसक जिय जावै॥

इस प्रकार सावन और फागुन में प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के उद्दीपन में मीरा का प्रेम-विह्वल हृदय विरह के अन्तिम

छोर पर पहुँच जाता है। उसके हृदय में छिपी हुई 'हूक' विराट् वड़वानल का रूप धारण कर लेती है। श्री गिरिधारीलाल के विना मीरा का हृदय तमावृत है, दुःखपूर्ण है। उसका जीवन ही उसके लिए भार स्वरूप होकर असह्य हो जाता है।

कवियों का दुःख वहुधा उधार लिया हुआ होता है, फिर भी वे उसमें अपने हृदय का रस घोलकर उसको अपना वना लेते हैं और पाठकों को रुला तक देते हैं। वे उस परिस्थिति में, जिसमें निर्वासिता सीता, उपेक्षिता शकुन्तला तथा तिरस्कृता पार्वती, विरह-विधुरा पद्मावती एवं नागमती रहती है, डालकर अपने को तन्मय तल्लीन कर देते हैं और इसी हेतु पाठकों पर भी प्रभाव डालने में सफल होते हैं। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में मनुष्य को कौन कहे, 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'। हाँ, इसमें कवि की सफलता अवश्य समझी जानी चाहिए और वस्तुतः कवि-कर्म है भी यही। मीरा के हाथ में न गोपियाँ ही थीं, न नागमती ही; न सीता ही थी, न पार्वती ही। मीरा की वात ही दूसरी है। उसका हृदय प्रभुजी के साक्षात्कार के लिए व्याकुल होकर तड़प रहा है। उसे दुनिया की ओर देखने की न आवश्यकता ही है न अवकाश ही। किसी भी साहित्य में प्रेमोत्सर्ग में मीरा के समान कवि या भक्त नहीं हुआ है। उसके गीतों में उसके हृदय की धड़कन स्पष्टतः सुनाई पड़ रही है। उसका 'दर्द-दिवाना दिल' उसके भीतर से स्पष्टतः उन गीतों में लिपटा हुआ प्रतिविम्वित हो रहा है। मीरा गाती है, क्योंकि विरह के भार से दवे हुए उसके विह्वल और पागल हृदय से गाये विना रहा नहीं जाता

रहस्योन्मुख भावना

मीरा का प्रेम 'माधुर्य्य भाव' का था जिसमें भगवान् की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है। भक्ति प्रेम में लय हो जाती है और भक्त परमात्मा को अपना पति मानकर उसके चरणों में अपने को निछावर कर देता है। पत्नी पति की इच्छा में अपनी इच्छा, पति के सुख में अपना सुख और पति के प्रेम में अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है। हिन्दी में इस रहस्यवाद का पूर्ण विकास सूफी कवियों में ही हुआ, जहाँ भगवान की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है। कबीर में भी जो उत्कृष्ट रहस्यवाद मिलता है वह सूफी धर्म का प्रसाद है। सूफी संतों ने अपने परम भावुक हृदय के विस्तार में 'परम रूप' की परिछाँही समस्त चराचर में, अणु-अणु में देखी और उसी में अपनी निजी सत्ता खो दी—

'देखेउँ परम हंस परिछाँही,
नयन जोति सो विछुरत नाँहीं।'

सूफियों ने समस्त चराचर में बिखरी हुई सौन्दर्य्य-सत्ता को उसी परम रूप में संबद्ध देखा और सभी 'वुत' में 'जल्वए-खुदा' का ही साक्षात्कार किया। उनका समाज तथा धर्म मूर्त्ति-पूजा अथवा किसी भी प्रतीकोपासना के विरुद्ध था। फिर भी, एकेश्वरवाद के उस सुदृढ़ बन्धन के भीतर से भी विशुद्ध अद्वैत-वाद बहुत ही निखरे हुए रूप में प्रकट हुआ और हल्लाज मंसूर 'अनल हक़, अनल हक़' कहते कहते फाँसी पर लटक गया। सूफियों के अद्वैतवाद और शङ्कर के मायावाद में मूलतः भेद यह है कि सूफियों की भावना प्रेम-मूलक; अनुभूति-प्रसृत थी और वे अपनी निजी सत्ता को उस परम सत्ता में, जो समस्त चराचर को विंधती हुई चली गई है, लय कर देते थे। वेदांत का अद्वैत ज्ञान-मूलक अथच चिन्तन-प्रसूत है, सूफियों का अद्वैत प्रेम-मूलक अतएव भावना-प्रसूत है।

कबीर की दृष्टि जायसी की भाँति व्यापक न थी और न इतनी रस-ग्राहिणी ही थी। 'हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया' में बहुत ही सुन्दर भाव-व्यंजना है। कबीर व्यक्त उपासना के परम विरोधी थे और निर्गुण संतों ने अवतारों का घोर विरोध भी किया। इस हेतु यद्यपि इनमें परम-भाव की झलक व्यक्त और अव्यक्त रूप में सर्वदा विद्यमान है फिर भी आश्रय एवं आलंबन की ठीक-ठीक व्यवस्था न होने के कारण भक्ति की पूर्णतः निष्पत्ति न हो पाई। कबीर का लक्ष्य हृदय वेधने का न रहा, वे मस्तिष्क में ज्ञान का प्रकाश देकर हमें 'उत्तिष्टत जाग्रत' का

ही संदेश दे रहे हैं। मीरा न तो कबीर की भाँति ज्ञानी ही थीं न जायसी की तरह कवि ही। वह एक मात्र प्रेम की पुजारिन थी। मीरा की प्रेमानुभूति जायसी की भाँति व्यापक भले ही न हो परन्तु निगूढ़ कम न थी। सावन के रिमझिम में जब मेह घिर आते हैं, आँगन में पानी ही पानी हो जाता है, बिजली कड़कने लगती है और फुहियाँ बरसने लगती हैं; उस समय उस 'न मिलनेवाले' के लिए, उस 'ना, ना की मधुर मूर्त्ति' के लिए हृदय में उद्विग्नता का भयंकर दावानल धाँय धाँय करने लगता है। लू से तपी हुई पृथ्वी पर बूँदें बरसाकर 'उस' ने आर्द्रता एवं शीतलता का संचार कर दिया है। हरियाली उग आई है परन्तु विरहिणी के अन्तस् का ताप, हृदय की *व्यथा ज्यों-की-त्यों है*, बल्कि और भी उभर आई है, जग आई है:

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी।
काली पीली घटा ऊमड़ी, बरस्यो एक घरी॥
जित जाऊँ तित पाणी पाणी हुई भोम हरी।
जाका पिव परदेस बसत है भीजूँ बाहर खरी॥

दादुर, मोर, पपीहे की बोली उद्दीपन विभाव है और हृदय में इस कारण कसक उठती है, ऐसा भान होने लगता है कि स्वयं 'महराज' ही आ रहे हैं। मीरा अपने महल पर चढ़कर 'उन' के आगमन की तीव्र प्रतीक्षा करने लगती है। मोर पपीहा की बोली से हृदय में जो उत्सुकता जग उठी है उस में पिया के आने की आवाज स्पष्टतः सुन पड़ती है—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैल चढ़ँ चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी कब आवै महराज॥

दादुर मोर पपइया बोलै, कोइल मधुरे साज।
उमंग्यो इंद चहूँ दिसि बरसै दामिणि छोड़ी लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्दु मिलण के काज।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी वेगि मिलो महाराज॥

सारी सृष्टि मिलन की उत्कण्ठा में साज सजा रही है। इस महामिलन के मंगल-सूचक कोयल मोर पपीहा अपनी तान छेड़े हुए हैं—चारों ओर रिमझिम बूँदें बरस रही हैं, दामिनि भी अपनी लज्जा छोड़कर मिल रही है। अपने पति से मिलने के लिए पृथ्वी ने भी नई हरी साड़ी पहन ली है; इस समय जब सारा चराचर मिलन में सराबोर हो रहा है मीरा को प्राणवल्लभ का वियोग बहुत ही खल रहा है। उसे यह आशा दृढ़ हो आती है कि प्रभुजी के अब दर्शन हुए ही चाहते हैं—प्रेम की इसी वर्षा में कबीर भी भींग रहे हैं।—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भींगी आतमा, हरी भरी बनराइ॥

जिस 'निठुर' के लिये सारी रात 'जगकर विहान' किया फिर भी 'वह' न लौटा—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो।
बिन देख्या कल नाहिं परत जिय, ऐसी ठानी हो॥
अंगि-अंगि व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अंतर-वेदन विरह की वह पीड़ न जानी हो॥
ज्यों चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो।
'मीरा' व्याकुल विरहिणी सुध बुध बिसरानी हो॥

उस विरहिणी मीरा की प्रतीक्षा और भी तीव्र हो जाती है। उसकी स्मृति में वेदना और आनन्द घुले मिले हैं।

मधुमास में जब कि सर्वत्र आनन्द की वर्षा हो रही है, लतावल्लरियाँ फूलों से झुक गई हैं अमराइयों में से मंजरी की मँह मँह आकर हृदय की कली को खिला जाती है, और मलयानिल के झोंके से सर्वत्र उन्माद उमड़ा-उमड़ा फिरता है—

उस समय भी—

'सूनो गाँव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी।
सूनी विरहिन पिय बिन डोलै तजगई पिव पियारी।
देस विदेस सन्देस न पहुँचै हो अंदेसा भारी।
गिणता गिणता घिस गई रेखा आँगरियाँ की सारी।

ऐसा जान पड़ता है कि मानो एक क्षण के लिए मिलकर हम सदा के लिए अपने प्राणाधार से बिछुड़ गये हैं। एक बार, बस एक बार कभी हमारे हृदय ने उसके आलिंगन का, अधरों ने उसके चुम्बन का रस पाया है, उस 'एक क्षण' की स्मृति ही हमारी वेदना को उद्दत्त और हमारे विरह को उद्दीप्त किये रखती है, अब तो दर्शन भी दुर्लभ हैं—

गली तो चारो बन्द हुई मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय।
ऊँची नीची राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥
ऊँचा-नीचा महल पिया का मो पै चढ़्या न जाय।
पिया दूर पन्थ म्हारा झीना सुरत झकोला खाय॥

एक बार प्रेम का आस्वादन करा कर 'वह' चला गया और हृदय को विरह की आँच में भस्म होते देखकर भी उसे दया नहीं आती ?

'मीन जल के बिछुरे तन, तलफि के मरि जाय'

हमारी स्थिति का आधार उसका प्रेम ही है, उसके बिन हमारा जीवन ही असम्भव है, मछली पानी के बाहर कैसे जी सकती है ? कबीर कहते हैं—

आइ न सकौं तुझ पै, सकूँ न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ॥

तथा

आठ पहर का दाँझणा मो पै सह्या न जाइ।

विरह का यह दुःख (इसे 'दुःख' भी तो नहीं कह सकते) भी तो यह दुनिया नहीं समझ पाती—"घायल की गति घायल जानै, या जिहि पीर लगाई हो।" कबीर भी यही अनुभव करते हैं—

चोट सताणीं विरह की सब तन जर-जर होय।
मारणहारा जाणि है, को जिहि लागी होय॥

जायसी की भाँति मीरा में भी बारहमासे का एक वर्णन मिलता है परन्तु उसमें न तो जायसी की भांति व्यापकता ही है न हृदय की उतनी निगूढ़ अनुभूति-मूलक भावना ही। वह वर्णन बहुत ही चलता हो गया है। प्रकृति के इस अनुपम साज शृंगार के भीतर मीरा के दिन 'काग उड़ाते' कब तक बीतेंगे इसी का बार बार संकेत है। मीरा की दृष्टि प्राकृतिक सुषमाओं पर बहुत ही कम गई है, जो गई भी वह केवल हृदय की वेदना को उभारनेवाले वस्तुओं एवं उपकरणों पर ही। स्त्रियों का हृदय, अब भी गाँवों में देखा जाता है, अपनी भाव-प्रवणता में प्रकृति की सभी लीलाओं में पूर्णतः रम जाता है। परन्तु यह रमना कवियों का रमना न होकर प्रेमियों का अपने प्रोषित पति के

आगमन एवं मिलन के भावों के उद्दीपन में मिलना होता है। पति के नाते ही सब कुछ सुहावना लगता है। जॉंव, के गीतों में अब भी वही परम आनन्द छलका पड़ता है।

मीरा का वह 'अगम देश' बहुत ही मोहक है, जहाँ 'भरा प्रेम का हौज हंसा केलि करें'। उस 'सून महल' की, जहाँ 'प्रीतम की अटारी' बिछी हुई है, एक झाँकी लीजिये—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुन सेज बिछी।
पँचरंगी झालर सुभ सोहे फूलन फूल कली।
बाजूबंद कडूला सोहे मांग सेंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली।
सेज सुखमणों मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी॥

तथा

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न-महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री॥
पिया पलना जा पौढूँगी मीरा हरि रंग राचूँगी।

इस 'सून महल' में सैयाँ की सेज पर पौढ़ने के लिये मीरा पाँव में घुँघुरू बाँधकर, माँग में सिंदूर लगाकर तथा हाथ में आरती की थाल लेकर प्रवेश करती है—

या तन का दियना करों मनसा करों बाती हो।
तेल भरावों प्रेम का बारों सारी राती हो॥

रोम-रोम में मिलन की उत्कण्ठा जग रही है—

बिन करताल पखावज बाजे अनहद की झनकार रे।
बिन सुर राग छतीसूँ गावे रोम रोम रंग सार रे॥

फिर तो सभी कुछ, सारे कर्म, सभी व्यापार श्रीकृष्णार्पण हो चुकने पर, प्रार्थना का अविच्छिन्न अक्षुण्ण प्रवाह चलता रहता है—

जहँ जहँ पावँ धरूँ धरणी पर तहँ तहँ निरत करूँ री।

कहीं कहीं अद्वैत की बहुत सुन्दर व्यंजना है—

तुम विच हम विच अंतर नाहीं जैसे सूरज घामा।
पल पल तेरा रूप निहारूँ निरख निरख सुख पाती॥

इसमें 'हम तुम स्वामी एक हैं, कहन सुनन को दोय' का कितना सुन्दर भावपूर्ण संकेत है। उपनिषदों के 'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति' आदि वचनों का भी कुछ आभास उपर्युक्त पदों से मिलता है, साथ ही साथ रैदास जी का 'प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी'—वाला पद भी स्मरण हो आता है। 'जित देखूँ तित पानीहि पानी' से तो कबीर का निम्नलिखित पद का भाव बहुत मिलता-जुलता है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

'इच्छा' भी तो केवल भर आँख देखने की ही है—

म्हाने चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।

'साहचर्य' की इस उत्कट इच्छा के साथ दृढ़-'विश्वास' भी तो है—

'मीरा के प्रभु गहिर गभीरा हृदय धरो जो धीरा
आधी रात प्रभु दरसण देहैं प्रेम नदी के तीरा'

जो रात दिन हमारे भीतर बस रहा है 'उसे' खोजने बाहर क्यों जायँ ?

जाका पिय परदेस बसत है लिखि लिखि भेजे पाती।
मेरा पिय मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती न जाती॥*

कबीर के शब्दों में—नयन की कर कोठरी पुतरी पलँग बिछाय।
पलकन की चिक डारिके पिय को लेहुँ रिझाय।

मीरा का प्रेम व्यापक (extensive) न होकर intensive (तीव्र) ही है, उसका प्रेम और विरह पति के लिए पत्नी के हृदय का प्रेम और विरह है। मीरा दांपत्य में सबसे आगे है।

---

* कवीन्द्र रवीन्द्र की 'साधना' में कितना अधिक भाव-साम्य है—

'Where can I meet Thee unless in this my home made Thine. Where can I join Thee unless in this my work transformed into Thy work. If I leave my home, I shall not reach Thine, if I cease my work, I can never join Thee in Thy work. For thou dwellest in me and I in Thee. *Thou without me or I without Thee are nothnig'*

मीरा और अन्य भक्त-प्रेमी कवि

मुक्तक और प्रबंध के प्रतिबंध को हटाकर काव्य की स्वच्छ मधुर आत्मा के दर्शन करनेवाले रसज्ञ समालोचक 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' 'रसात्मक वाक्य' आदि सभी काव्य-परिभाषाओं में अव्याप्ति दोष पाते हैं। जो हमारे मनोरागों को उत्तेजित एवं अनुरंजित कर हमारे हृदय को अपने रंग में रँग सके वही सच्चा काव्य है। काव्य हृदय के निर्झर से निकलकर हृदय ही के महासागर में प्रवेश कर जाता है। यहाँ साधन और साध्य दोनों हृदय ही है। इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए यदि देखा जाय तो मीरा संसार के कुछ इने गिने कवियों में आ जाती है और उन सभी में मीरा का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

हिन्दी-कवियों में मीरा के सबसे निकट आनेवाले बस दो ही कवि हैं—जायसी और आनन्द-घन। जायसी और मीरा की 'परम भावना' सर्वथा एक ही है। सूफियों के 'मार्फत' और

वैष्णवों का 'आत्म-निवेदन' एक ही है। सूफियों में भी, यदि इस्लाम का पर्दा हटाकर देखा जाय तो प्रतीकोपासना, अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही सही, विद्यमान थी। इन्होंने भी परमात्मा को प्रियतम माना और वैष्णव धर्म के माधुर्य भाव में भी परमात्मा को पति माना गया है। श्रवण-कीर्तन आदि की विभेद सूफियों में भी शरीअत, तरीक़त हक़ीक़त और मारफ़त आदि भिन्न नामों से वर्तमान हैं। दोनों में अन्तःकरण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को ही प्रधानता दी जाती है। दोनों ने परमात्मा की सत्ता का सार प्रेम ही माना है। उनका 'हल्लूल' और हमारा 'वासुदेवः सर्वमिति' एक ही है। 'आत्म-समर्पण' को ही दोनों ने स्वीकार किया है। 'खुदा के नूर को हुस्ने बुतों के परदे में' देखनेवाले 'सर्वभूतमये हरि' से सिद्धान्ततः कोई अन्तर नहीं। जायसी कहते हैं—

'पिउ से कहेउ सँदेसड़ा हे भौंरा हे काग,
सो धनि बिरहै जरि मुई ओहिक धुआँ हमह लाग'॥

मीरा कहती है—

काढि कलेजा मैं धरूँ रे कौआ तू ले जाय।
ज्यॉं देसॉं म्हारो पीव बसत रे वे देखत तू खाय॥

मीरा का प्रेम अपने ही भीतर घुलनेवाला है, जायसी का प्रेम विश्व को अपने रंग में रँगनेवाला। जिस पथ से 'प्रीतम' का आना होगा उसे मीरा और जायसी दोनों ने पलकों से बुहारा है। जायसी और मीरा में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है, मीरा में प्रेम-पात्र का स्थूल रूप कुछ विशेष परिलक्षित हो रहा है, जायसी में बहुत सूक्ष्म है।

कबीर की अटपटी बानी पर जहाँ सूफियों का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है वहाँ वे मीरा के साथ हैं। हाँ, कबीर में सहृदयता की उतनी गहरी मात्रा न थी जितनी मीरा में थी। उनमें मीरा की सी न रसात्मकता ही है, न भावुकता ही। हाँ, 'राम मोर पिव मैं हरि की बहुरिया' की भावना कर जब वे साजन की सेज पर पौढ़ने की कामना करते हैं उस समय मीरा के बहुत पास आ जाते हैं।

गोसाईं तुलसीदासजी की उपासना दास्यभाव की थी। 'कामिहिं नारि पियारि जिमि' द्वारा वे अपने सेवा-भावना को ही दृढ़कर रहे थे। वे लोक-संग्रही साधना को मानने वाले थे। आँख मूँद कर, संसार को भुलाकर जिस ऐकान्तिक प्रेम की साधना की जाती है वह गोसाईंजी को स्वीकार न थी। वे 'सिया राम मय' जगत को 'जोरि जुग पानी' प्रणाम करने को ही उद्यत होते हैं, प्रेम करने को नहीं। उनके 'राम' भी तो लोक-धर्म के संस्थापक मर्य्यादा पुरुषोत्तम ही हैं।

सूर की उपासना सख्य-भाव की है। सूरमें वात्सल्य रस की ही प्रधानता है। भावना दांपत्य की। एक को दूसरे में मिला देना उचित नहीं। गोपियों की वात्सल्य एवं दांपत्य का जो सुन्दर प्रवाह 'सूर सागर' में बहा है वह अन्यत्र किसी भी साहित्य में दुर्लभ है। दांपत्य रति में गोपियों का प्रेम एवं प्रेम की विरह-वेदना भी बहुत ही व्यापक रूप में अंकित की गई है। सूर का भावुक हृदय वंशी-वट, यमुनातट, करील कुंजों तक ही सीमित न रहकर, जैसा हम दिखाते आये हैं, प्रकृति के नाना रूप-विलासों में भी पूर्णतः रमा है। मीरा कृष्ण की 'परम भावना' करनेवाली थी अतएव

स्वभावतः उसका ध्यान कृष्ण के बाल रूप की ओर नहीं गया। अब रहा सूर और मीरा का प्रौढ़ श्यामल युवा कृष्ण के वर्णन में समानता देखना। सूर ने स्पष्ट रूप में कृष्ण को अपना उपास्य सखा ही माना है, पति नहीं। सूर और मीरा दोनों 'सुन्दर' के उपासक हैं। शील और शक्ति की ओर सूर का ध्यान कुछ अधिक गया है मीरा का कम। सख्य भाव में जो प्रगाढ़ आनन्द है उसे सूर ने 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' में पूर्णतः अंकित किया है। हाँ, जहाँ तक गोपियों का कृष्ण के प्रति भाव है— वहाँ सूर और मीरा, नहीं नहीं गोपियाँ और मीरा एक हैं। गोपियों के प्रेम में व्यापकता है, मीरा के प्रेम में गंभीरता एवं गहराई। गोपियाँ प्रेयसी के रूप में आती हैं मीरा पत्नी के रूप में। एक में रूप-लिप्सा है दूसरे में सर्वस्व समर्पण। मीरा का प्रेम प्रेम है, गोपियों का प्रेम रूपासक्ति है। गोपियों का कृष्ण के मथुरा चले जाने पर रोना पीटना लड़कों का खिलवाड़ सा हो जाता है, कृष्ण तो बस दो तीन कोस दूर थे ही। किन्तु मीरा के प्रेम तथा विरह में अनन्त प्रेम और अनन्त विरह की अत्यंत गंभीर व्यंजना है।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों में कृष्ण के रूप एवं लीला के विन्यास की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना मिलती है। इनमें एकआध को छोड़कर सभी ने सूरदास के ही समान भाव व्यक्त किये हैं। किसी में अपने निजी व्यक्तित्व (Individuality) का पता नहीं चलता। इनमें वाग्वैदग्ध एवं वचन-वक्रता भी खूब है। हृदय-पक्ष के साथ कला-पक्ष का भी सुन्दर समन्वय हुआ है। इनमें श्रीहितहरिवंश जी का प्रेम उनकी काव्य माधुरी के कारण विशेष उल्लेखनीय है।

जायसी और सूर के अनन्तर प्रेम की निगूढ़ वेदना के अत्यन्त मधुर गीतों को सुनानेवाले 'प्रेम' के सर्वोत्कृष्ट कवि आनन्दघन जी ऐसे हैं जिन्हें मीरा के समकक्ष मानना चाहिये। घनानन्द में प्रेम एवं विरह का परम व्यापक रहस्योन्मुख रूप मिलता है, वैसा किसी भी अन्य कृष्ण-भक्त-कवि में नहीं मिलता। प्रेम के स्थूल रूप-आधार से ऊपर उठकर घनानन्द ने प्रेम की उस अनन्त सत्ता का जो विश्व के अणु अणु में झलकी पड़ती है— संकेत बार बार किया है। कृष्ण भक्त कवियों में एक बँधी परिपाटी पर चलने की ही प्रवृत्ति विशेष परिलक्षित होती है। यह बात घनानन्द में नहीं है। उनकी विरह-वेदना अत्यन्त गूढ़ एवं तीव्र है—

अंतर हौ किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागिनि भीरौं।
आगि जरौं आकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।
जो घन-आनन्द ऐसी रुची तो कहा बस है कहा प्रानन पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरनी में धँसौं कि अकासहि चीरौं॥

उनकी 'पीर' कृष्ण के विरह में 'व्याकुलता' का ही रूप धारण नहीं करती, अन्तस्तल की अधिष्ठात्री हो जाती है—

'रैन दिना घुटिबो करैं प्रान झरैं दुखियाँ अँखियाँ झरनासी'

बहुत ही आतुर होकर वे प्रार्थना करते हैं—

विरह-विथा की मूरि, आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पाँयन की, हा, हा, नेकु आनि दै।

मेघों से उनकी विनीत, आर्द्र विनती सुनिये—

कछु मोरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन॥
मो अँसुवान को लै बरसौ।

इस सम्बन्ध में रसखानजी के वे परम-मनोहर पद—'मानुस हौं तो वही रसखान'—तथा 'या लकुटी अरु कामरिया पर' सहज ही स्मरण हो आते हैं। साथ ही साथ 'या मुरली मुरली-धर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी' और 'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं' द्वारा रसखान ने कितनी सुन्दर भाव-व्यंजना की है! प्रेम की इसी उच्छल जलधि-तरंग में मीरा की भी माधुरी स्वतः छिटकी पड़ती है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने संक्षेप में देख लिया कि भक्ति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर'रति में सबसे अधिक की तुष्टि एवं संभोग श्रीकृष्ण में ही विशेष रूप से होती है। मधुर रति, जो सर्वोपरि है, केवल श्रीकृष्ण में ही परितृप्त होती है। राम में शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य के उपकरण हैं परन्तु श्रीकृष्ण में पाँचों पूर्णतः प्रस्फुटित हो रहे हैं। राम में शील और शक्ति है परन्तु कृष्ण में सौंदर्य्य के सम्पूर्ण उपादान प्रस्तुत हैं। रामके लिए हमारे हृदय में दास्य से होता हुआ कठिनाई से सख्य-भाव प्रतिष्ठापित हो सकता है। परंतु श्रीकृष्ण में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य से होते हुए मधुर भाव तक पहुँच जाते हैं और उन्हें अपना 'पति' प्राण-वल्लभ मानकर उनकी अनन्त भुवन-मोहिनी छवि-सत्ता पर पत्नी-भाव से अपने को समर्पित कर सकते हैं। इसके लिये श्रीकृष्ण-भक्ति में हृदय के लिए पूरा क्षेत्र खुला हुआ है।

वैष्णव-धर्म के कान्त-भाव से भक्ति करनेवालों का मुख्य रूप से यही सिद्धान्त है कि पूर्ण आनन्द-दायक आकर्षण सत्ता-युक्त चिद्घन स्वरूप परम तत्त्व का नाम श्रीकृष्ण है। इस परम तत्त्व की ओर आकृष्ट चित्कण-स्वरूप जीव-समुदाय की जो आकर्षण-क्रिया है उसीका नाम भक्ति है *। इसी भक्ति की परिभाषा श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्ति-रसामृत सिंधु' में इस प्रकार दिया है—

अन्याभिलषिता शून्यं ज्ञान कर्मद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् एक श्यामसुन्दर के अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक एवं पारलौकिक विषयों की अभिलाषा से शून्य होकर, ज्ञान-कर्मादि से अनावृत रहकर श्रीकृष्ण के अनुकूल उनकी सेवा करना उत्तमा भक्ति है। 'नारद-सूत्र' में भी इसी परम भक्ति का स्वरूप गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाली अविच्छिन्न, अत्यन्त सूक्ष्म और अनुभव रूप बतलाया गया है। परम भक्ति की सीमा का छोर 'प्रेम' में विलय हो जाता है। सब कुछ श्रीकृष्णमय, सर्वं खल्विदं श्रीकृष्णः। उस स्थिति को प्राप्त कर भक्त की संज्ञा प्रेमी की हो जाती है और भक्ति का प्रेम में पर्य्यवसान हो जाता है। उस समय प्रेमी सब कुछ में श्रीकृष्ण को ही सुनता है, श्रीकृष्ण ही बोलता है और श्रीकृष्ण का ही चिंतन करता है। कृष्ण के अंग-अंग से छलकते हुए मधु को पीकर

* कर्षति आत्मसात्करोति आनन्दत्वेन परिणामयति मनो भक्तानां इति धातुः स कृष्णः। 'गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़मान अविच्छिन्न सूक्ष्मतर अनुभव रूप। तत्प्राप्य तदेव शृणोति तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति'—नारद-सूत्र

वह उन्मत्त हो उठता है। इस रस में रूप-माधुर्य्य के आधार-भूत श्रीकृष्ण ही एक मात्र विषयालंबन हैं और व्रजांगनाएँ आश्रयालंबन हैं। इसमें वंशी-ध्वनि, वसंत ऋतु, कोकिला-स्वर, नव जलधर और केकी-कंठ इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं और कटाक्ष, हास्य, नृत्य आदि अनुभाव हैं।

पत्नी पति की सहचरी भी है, अनुचरी भी। सेज पर पति के परम प्रेम की रसास्वादिनी भी है, चरण चाँपनेवाली दासी भी। वह पति के अधरों के रस की भी अधिकारिणी है और चरणामृत की भी। उसका समर्पण सर्वांगीन है। उसमें वह किसी प्रकार के प्रयास का अनुभव नहीं करती। समुद्र की अथाह जल-राशि में जाकर, जिस प्रकार नदियाँ अपने नाम और रूप को लय कर देती हैं, अपने प्रवाह एवं लहर को अपने प्राणवल्लभ की अनन्त जल-राशि में डुबो देती हैं उसी प्रकार पत्नी भी पति की इच्छा-राशि में अपनी इच्छाओं को मिटा देती है, लय कर देती है। पत्नी के सभी भावों की पूर्ति पति में हो जाती है। सम्मान, अति आदर, प्राति, विरह, तदीयता आदि के भाव पूर्णतः परितुष्ट होते हैं जिसकी शांडिल्य मुनि ने अपने सूत्रों में विशद विवेचन के साथ प्रकट किया है *! इसी परम-भावना पूर्ण भक्ति को ही 'साकर्म्मणि परम प्रेम रूपा' कहा है। शांडिल्य ऋषि ने स्पष्टतः कहा है कि ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही 'प्रेम' है। * इस बात को प्रकट करने

* सन्मान, बहुमान प्रीति विरहेतर विचिकित्सा महिमख्याति तदर्थं प्राणस्थान तदीयता, सर्वत्र तद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्योः बाहुल्यात्। सा परानु-रक्तिरीश्वरे—शांडिल्य-सूत्र।

की आवश्यकता न रह गई कि इस परम प्रेम-स्वरूपा भक्ति में कैवल्य मोक्ष आदि की ओर कभी ध्यान भी नहीं जाता। वह तो 'रात दिन चोखे चोखे बसिया समाई देखे' अपने अन्तस् में 'उसके' पावन, मधुर, शीतल, सुखद विद्युत-स्पर्श का अनुभव करता है। इस आत्म-समर्पण के आनन्द के सम्मुख मोक्ष का आकर्षण कैसा ?—

'यदि भवति मुकुंद भक्तिरानन्द सान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्ष साम्राज्य लक्ष्मीः।'

परन्तु चिरन्तन शाश्वत प्रेम की यह अनुभूति विरह में उद्दीप्त एवं जागृत रहती है। मिलन इसके आनंद को धुँधला कर देता है। विरह के झीने पट से छन-छन कर आती हुई मिलन की सुषमा को हमारा हृदय प्रत्यक्ष अनुभव करता है। महामिलन की उत्सुकता और विरह का दर्द दोनों हमारे हृदय में लिपटे सोते हैं—बड़ी विचित्र स्थिति है—

बाहिरे विष ज्वाला हय, भितरे आनंदमय
कृष्ण प्रेमार अद्भुत चरितामृत।
एई प्रेमार आस्वादन तप्त इक्षु चर्वण
मुख ज्वले ना पाय त्यजन॥
सेई प्रेममार मने, तार विक्रम सेई जाने
विषामृते एकत्र मिलन।

बाहर तो विष की ज्वाला है और भीतर आनंद-मय है। यह आस्वादन तो गरम गन्ना चूसने की भाँति है। मुख जलता है परन्तु छोड़ने का जी नहीं चाहता। जिसके हृदय में यह प्रेम होता है वही उसका महत्व जानता है। इसमें विष और अमृत

का अपूर्व मिलन है। जायसी ने भी कहा है कि विरह की आग में जलते तपते रहते हुए भी वाहर आने का जी नहीं चाहता।—

लागिऊँ जरै, ज़रै जस भारू,
फिरि फिरि भूंजेसि तजिउँ न वारू।

वह मुझे विरह की आग में जला रहा है फिर भी यह यंत्रणा इतनी सुखद है कि वार-वार इसीमें हृदय लौट पड़ता है, विमुक्त होना नहीं चाहता। प्रेम की यह जगती ज्वाला जो विरह की धुँधुँआती अग्नि से प्रकट होकर गगनचुंबी लपटों में वल उठती है भक्तों के प्रेम—दीवाने हृदय का मुख्य आधार है। यह न जागर्ति ही है न सुपुप्ति ही, न सुख ही है न दुःख ही। अपनी एक निराली अवस्था है जिसका कोई नाम नहीं। स्वप्न में वस एक वार मीरा ने अपने अधरों पर 'उसके' चुंबन का अनुभव किया था फिर जव वह स्पर्श-सुख से जगी तो 'वह' गायब !

सोवत ही पल्का में मैं तो पलक लगी पल में पीव आप।
मैं जो उठी प्रभु आदर देण कूँ जाग परी पिव ढूँढ़ न पाए॥
और सखी पिव सोई गमाये, मैं जू सखी पिव जागि गमाए।

'प्रसाद'जी के शब्दों में मीरा की वस एक ही 'शिकायत' है-

'दुःख क्या था तुम को मेरा, जो सुख लेकर यों भागे।
सोते में चुंबन लेकर जब रोम तनिक सा जागे।'

प्रेम अभी अपने प्राण-वल्लभ से मिलने ही वाला था; स्वप्न में 'उस' के चुंबन को प्रेम ने अपने अधरों पर अनुभव भी कर लिया था, आँखें खोलकर, एक वार, वस एक वार अपनी

भुजलताओं में उसे बाँधने ही चला था कि वह 'छलिया' खिसक गया और उस अल्हड़ पागल प्रणय को जीवन पर्य्यन्त, अनन्त काल के लिये विरह के हाथ सौंपकर 'अदृश्य' में अन्तर्धान हो गया। यह अनन्त विरह ही, उस 'न मिलनेवाले' से मिलने की उत्सुकता ही, जीवन का सम्पूर्ण यह अनुराग ही जो एकोन्मुख होकर प्राण-वल्लभ के लिये तड़प रहा है, घुट रहा है, मीरा के दर्द भरे आर्द्र गीतों का प्राण है। विरह के एक-एक सिहरन में, एक-एक आह में, जीवन की अतृप्त आकांक्षा, प्राणों की अधूरी लालसा अपने समर्पण की अन्तिम घड़ियों में निर्वाण पाती हुई भी एक विचित्र आभा, एक अपूर्व आलोक इस वसुन्धरा में छिटका जाती है। दीपक की लौ पर शलभ के जलते समय एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो जाता है। वंशी की तान पर मुग्ध मृग अपनी मृत्यु में भी अमरत्व पान कर लेता है। कमल में बंद भ्रमर के प्राण जब घुटने लगते हैं उस समय भी उसका प्रणय-संगीत छिड़ा रहता है, आनन्द-प्रवाह चलता रहता है। मृत्यु प्रेम के स्रोत को बाँध नहीं सकती, रोक नहीं सकती। प्रेम परमात्मा की भाँति अमर है।

काव्य और प्रेम दोनों नारी-हृदय की सम्पत्ति हैं। काव्य का परम उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारी-हृदय में ही उगता, पल्लवित और पुष्पित होता है। प्रेम का अधिकारी भी वस्तुतः नारी का हृदय ही है। प्रेम एवं काव्य-संवेदन अनुभूति के अंगज हैं। नारी-हृदय संवेदन-शील, भाव-प्रवण होता है। नारी पुरुष की अपेक्षा, स्वभावतः, जन्मतः विशेष कोमल-हृदया होती है। वह प्रेम की वेदना को पूरी तरह अनुभव कर सकती है।

पुरुष का चिन्तन-शील ज्ञानाश्रित जीवन प्रेम एवं काव्य की तह में पूर्णतः प्रवेश नहीं कर पाता। पुरुष विजय का भूखा होता है नारी समर्पण की। पुरुष लूटना चाहता है, स्त्री लुट जाना। पुरुष में जिगीषा है, स्त्री में बलिदान। नारी-हृदय पुरुष से अधिक सुसंस्कृत, सभ्य, कोमल, भाव-प्रवण, संवेदन-शील एवं अनुभूति-मूलक होता है। इसी हेतु पुरुष का 'स्त्रीत्व' ही कविता और प्रेम का अधिकारी है। प्रत्येक पुरुष में स्त्री है और प्रत्येक स्त्री में पुरुष। पुरुष का हृदय जब नम्र और भावुक होता है उस समय वह प्रेम एवं कविता का आस्वादन करता है और उस समय वह 'स्त्री' रहता है।

इस प्रकार मीरा का हृदय इस परम प्रेमकी आनन्दानुभूति के लिये सर्वथा उपयुक्त था। वह नारी थी ही, साथ ही प्रेम की आराधना करनेवाली भाव-प्रवण। संसार के सभी बन्धन स्वयं ही कट गये थे। इन प्रेमोपासकों में विरक्ति की मात्रा उतनी तीव्र नहीं होती जितना निर्गुण वैराग्य-प्रधान संतो में। यह तो प्रवृत्ति का मार्ग है, 'खाला का घर' है। इस प्रवृत्ति-पथ में 'सियाराम मय सब जग' हो जाता है। सारे नाते 'सर्व भूतमयं हरि' से ओतप्रोत हो जाते हैं। सब कुछ 'प्रीतम' का संदेश-वाहक सभी कुछ 'पिय' का संकेत लिये हुए। वहाँ सभी मनोराग निर्वाणोन्मुख हो जाते हैं।

हाँ, तो मीरा के लिए, केवल मीरा के लिए ही इस 'परम भाव' का मार्ग राजपथ सा खुला रहा; न कोई बाधा थी न व्यवधान। मीरा ने सच्चे हृदय से 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई' कहा। 'तुम बिन मेरो और न कोई' कहकर

मीरा अपने गिरिधर गोपाल के चरणों में गिरी और उसके ही हृदय ने 'पिया बिना रह्योइ न जाय' की तीव्र वेदना को पूरी तरह अनुभव किया। हृदय की इसी मूल प्रेरणा से ही 'साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक-लाज तजि नाची'। तौ भी इस अल्हड़ प्रेम-तपस्विनी का रोना 'पिया बिना सूनो छै जी म्हारो देस' आजीवन बना रहा। इसी को 'मानव के हृदय पर परमात्मा का चुंबन' 'Divine kiss on human breast' कहते हैं। मीरा के गीत गीत के लिये नहीं हैं। वह गाती है क्योंकि गाये बिना उसे रहा नहीं जाता। इन गीतों में वेदना का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा है। इन गीतों में बहते हुये प्रेम के सोते में एक बार अवगाहन करलेनेवाले प्रेम के अमृत को पानकर कुछ पागल से हो जाते हैं। उस प्रेम के मधुर आकर्षण के सम्मुख कुल-कानि या लोक-लाज की क्या हस्ती ?

मीरा की तुलना किससे की जाय ? जायसी कथाच्छलेन, अपने रहस्योन्मुख प्रेम पर कहानी की एक झीनी चादर डालकर अपने 'प्रेम की पीर' को प्रकट कर रहे हैं। सूर के हाथ में गोपियाँ थी। भवभूति के हाथ में सीता थी, कालिदास के हाथ में शकुन्तला थी। मीरा को किसी कवि से मिलाना मीरा के परम प्रेम का अनादर करना है। मीरा कवि के रूप में, गायक के रूप में, हमारे सम्मुख नहीं आती, वह प्रेम-साधक श्रीकृष्ण की पत्नी के रूप में आती है।

मीरा की तुलना केवल राधा से ही की जा सकती है। परन्तु राधा ने तो रास का रस भी चखा था। उसे तो श्यामसुंदर का आलिंगन एवं परिरंभन का अमृत भी मिला था। राधा को तो

नट-नागर के चले जाने पर ऊधों के भी दर्शन हुए। परन्तु मीरा? इस परम तपस्विनी अल्हड़ साधिका के अधरों पर स्वप्न में उस 'निठुर' ने अपने चुंबन का मधु-भार डाला था। चुंबन के उस अमर दाग को ही मीरा ने अपनी परम विभूति मानकर, उसका पावन 'प्रसाद' मानकर अपने जीवन को प्रेम के पारावार में डुबो दिया, लय कर दिया। स्वप्न के बाद जो जागृति आई उसमें अनन्त विरह की दारुण परन्तु मधुर ज्वाला आमरण हृदय में धधकती रही। उसमें मनुष्य की निर्वासित आत्मा का अपने प्रभु से मिलने के लिये आकुल उच्छ्वास एवं अनन्त विरह का दिव्य संकेत है।

ग्रीस देश में ईसा से पूर्व छठीं सदी में सैफो (Sapho) नाम की ऐसी ही प्रेम-पुजारिन हुई। इसी प्रकार सेन्ट टेरेसा (St Theresa) प्रसिद्ध ईसाई भक्तिन हो गई है। मीरा, टेरेसा, सैफो और रबिया प्रेम-साधना के चिर जागृत प्रदीप हैं जिनकी ज्योति से भक्ति का पथ अब भी जगमगा रहा है।

भारतवर्ष का अणु-अणु राधा और मीरा की आहों से उत्तप्त तथा उनके प्रेम से आर्द्र है। अब भी भक्ति और प्रेम में अनन्यता तथा सर्वात्म श्री कृष्णार्पण की जहाँ चर्चा होती है वहाँ बड़े ही प्रेम से मीरा का नाम लिया जाता है। मीरा प्रेमी-शिरोमणि है। अब भी हमारे हृदय के वृन्दावन में पैरों में घूँघरू बाँधे, हाथ में करताल लिये प्रेम-विह्वल मीरा गा उठती है—

हे री! मैं तो प्रेम-दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की किस विध मिलणा होय?

यह अनन्त के शून्य में मुक्त होकर रह जाता है। उसकी प्रतिध्वनि तो हम सुनते हैं परन्तु इसका उत्तर कौन दे?

प्रेम-साधना में 'प्राप्ति' कोई चीज नहीं। किसकी प्राप्ति? विरह के आनन्द के सम्मुख प्राप्ति में कौन सा आनन्द? पाकर हम क्या करेंगे? हमारे भीतर मिलन की उत्कण्ठा बनी रहे, प्रेम की पीर बनी रहे, हमारी खोज चलती चले—इसके आगे और चाहिए क्या?

बनी रहे हिय मधुर वेदना
बहते रहें अश्रु निर्झर।
व्याकुल प्राण सदा तेरे—
दर्शन हित बने रहें नटवर!
सदा खोजता जाऊँ मैं
पर तू अनन्त में मिलता जा।
आतुर आँखों से ओझल हो
झिलमिल सा तू हिलता जा।
यों थककर इस खोज ढूँढ़ से
करने लगें कूच जब प्राण।
बिना प्रयास भाव-वैभव से
गूँज उठे हिय तन्त्री-तान!
रिमझिम बजती पाँय पैंजनी
मुरली मधुर बजाते नाथ!
आ हिय आँगन लगो नाचने
हम भी नचैं तुम्हारे साथ॥

प्रेमामृत

(१)

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई, साधो, सकल लोक जोई ॥
भाई छोड्या बंधु छोड्या, छोड्या सगा सोई ।
साधु संग बैठ बैठ लोक-लाज खोई ॥
भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई ।
अँसुवन जल सींच-सींच प्रेम-बेलि बोई ॥
दधि मथ घृत काढि लियो, डार दई छोई ।
राणा विष को प्याला भेज्यो, पीय मगन होई ॥
अब तो बात फैल पड़ी, जाणे सब कोई ।
मीरां राम लगण लागी—होनी होय सो होई ॥

(२)

मन रे ! परस हरि के चरन ।
सुभग सीतल कमल-कोमल, त्रिविध-ज्वाला-हरन ॥

---

(१) जगत देख रोई—संसार की झूठी माया और व्यर्थ प्रलोभनों का आकर्षण साधारण सांसारिक पुरुषों को तो बहुत लुभावना प्रतीत होता है परन्तु भक्तों के हृदय में उनकी एक भी नहीं चलती और भक्त उनकी ओर उपेक्षा-भाव से ही देखता है। संसार की कुटिलता तथा कटुता को देख मीरा का मन खिन्न है इसीलिये 'रोने' की बात का संकेत है ।

होनी होय सो होई—जब जीवन को श्रीकृष्णार्पण कर ही दिया तो फिर संसार का क्या भय ? चाहे जो कुछ हो अपने को तो भगवान् के चरणों में चढ़ा ही दिया । अब डर काहे का ?

जे चरन प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरन ॥
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों, राखि अपने सरन ॥
जिन चरन ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिखौ श्रीभरन ॥
जिन चरन प्रभु परसि लीन्हें, तरी गौतम घरन ॥
जिन चरन कालीहि नाथ्यो, गोपलीला करन ॥
जिन चरन धारयो गोवर्द्धन, गरब मघवा हरन ॥
दास मीराँ लाल गिरधर, अगम तारन तरन ॥

(३)

मोहे लागी लटक गुरु-चरनन की ॥ ध्रु० ॥
चरन विना मुझे कछु नहिं भावे,
झूठ माया सब सपनन की ॥ १ ॥
भवसागर सब सूख गया है,
फिकर नहिं मुझे तरनन की ॥ २ ॥
मीरां कहे प्रभु गिरिधर नागर !
उलट भई मोरे नयनन की ॥ ३ ॥

---

(३) भवसागर सब सूख गया है—जब भक्त भगवान की शरण में सर्वभावेन चला जाता है तो उसे संसार-सागर से तरने की कोई चिन्ता नहीं रह जाती; कारण कि भगवान् स्वयं उसके योगक्षेम का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। पापी भी एक बार हृदय से प्रभु का नाम लेने पर स्वर्ग पा जाता है।

उलट भई मोरे नयनन की—हृदय की अन्तर्मुखी की वृत्ति में ही भगवान्न की मधुर झाँकी मिलती है।

(४)

हरि ! तुम हरो जन की भीर ॥
द्रौपदी की लाज राखी,
तुम बढ़ायो चीर ॥ १ ॥
भक्त कारन रूप नरहरि,
धर्यो आप सरीर ॥ २ ॥
हरिनकस्यप मार लीन्हों,
धर्यो नाँहिन धीर ॥ ३ ॥
बूड़ते गजराज राख्यो,
कियो बाहर नीर ॥ ४ ॥
दास मीराँ लाल गिरधर,
दुख जहाँ तहँ पीर ॥ ५ ॥

(५)

म्हांने चाकर राखो जी,
गिरिधारी लला चाकर राखो जी ॥
चाकर रहसूं, बाग लगासूं, नित उठ दरसन पासूं ।
वृन्दावन की कुंज गलिन में, गोविंद-लीला गासूं ॥१॥

---

(४) दुःख जहाँ तहँ पीर—जब जब भक्तों पर भीर पड़ती है तो भगवान का हृदय द्रवित हो जाता है और भक्त का दुःख उससे देखा नहीं जाता। इसीलिए जहाँ भक्त को दुःख हुआ कि भगवान को भी पीर होगी। 'हम भक्तन के भक्त हमारे' वाला पद भी तुलना करने योग्य है।

चाकरी में दरसन पाऊं, सुमिरन पाऊं खरची ।
भाव-भगति जागीरी पाऊं, तीनों बातां सरसी ॥२॥
मोर मुकट पीताम्बर सोहे, गल वैजंती माला ।
वृन्दावन में धेनु चरावे, मोहन मुरलीवाला ॥३॥
ऊंचे ऊंचे महल बनाऊं, बिच बिच राखूं बारी ।
साँवरिया के दरसन पाऊं, पहिर कुसुम्बी सारी ॥४॥
जोगी आया जोग करन कूं, तप करने संन्यासी ।
हरी-भजन कूं साधू आये, वृन्दावन के वासी ॥५॥
मीरां के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदे रहो जी धीरा ।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हों, जमुनाजी के तीरा ॥६॥

(६)

नहिं ऐसो जन्म बारंबार ।
क्या जानूं कछु पुन्य प्रकटे मानुसा अवतार ॥
बढत पल पल, घटत छिन छिन, चलत न लागे वार ।
बिरछ के ज्यों पात टूटे, लागें नहि पुनि डार ॥

---

(५) कुसुंबी सारी—तीसी के फूल के रंग को कुसुंबी कहते हैं। ऐसे ही रंग की साड़ी पहिन कर प्रेमिका पति से मिलती है ।

जमुनाजी के तीरा—पाठ भेद—प्रेम नदी के तीरा ।

(६) मीरा में विरात्मक पद बहुत थोड़े मिलते हैं । मीरा में वैराग्य वहीं मिलता है जहाँ जीवन की तुच्छता तथा गंभीर दायित्व का ध्यान आया है। इस अस्थिर संसार में केवल भगवान की भक्ति और उसमें अनन्य श्रद्धा ही मनुष्य का आधार है और इस महासागर से पार होने के लिए एकमात्र भगवान का ही आसरा है ।

भवसागर अति जोर कहिये विषम ओखी धार।
सुरत का नर बाँधे बेडा बेगि उतरे पार॥
साधु संता ते महंता चलत करत पुकार।
दास मीरां लाल गिरधर जीवना दिन चार॥

(७)

पायो जी मैंने राम-रतन धन पायो॥
वस्तु अमोलिक दी मेरे सतगुरु,
किरपा कर अपनायो॥ १॥
जनम जनम की पूँजी पाई,
जग में सभी खोवायो॥ २॥
खरचै न खूटै, वाको चोर न लूटै,
दिन दिन बढ़त सवायो॥ ३॥
सत की नाव, खेवटिया सतगुरु,
भवसागर तर आयो॥ ४॥
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर
हरख हरख जस गायो॥ ५॥

(८)

मेरे राणाजी, मैं गोविन्द-गुण गाना॥ ध्रु०॥
राजा रूठे नगरी रक्खे अपनी, मैं हर रूठ्या कहाँ जाना?॥ १॥
राणे भेजा जहर पियाला, मैं अमृत कर पी जाना॥ २॥
डबिया में काला नाग भेजा, मैं शालग्राम कर जाना॥ ३॥
मीरांबाई प्रेम-दिवानी, मैं साँवलिया वर पाना॥ ४॥

(९)

बसो मोरे नैनन में नँदलाल ।
मोहनी मूरति साँवरी सूरति नैना बने बिसाल ।
अधर सुधारस मुरली राजति उर वैजंती माल ।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल ।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भगत-बछल गोपाल ।

(१०)

भज मन चरण कँवल अविनासी ।
जेताइ दीसे धरण गगन विच, तेताई सब उठ जासी ।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें, कहा लिये करवत कासी ।

---

(९) भक्त भगवान के साथ अविच्छिन्न रूप से रहता है। भक्त के हृदय में राधाकृष्ण की मधुर मूर्त्ति सतत विहार करती रहती है, फिर उसे अभाव किस बात का ?

इस क्षण भंगुर अनित्य संसार में प्रभु की शरण में जाना ही परम पुरुषार्थ है। संन्यास लेकर, विराग के पथ पर चलकर, अपने मन को मारना, अपनी इच्छाओं को जीतना बहुत कठिन है। मन को तो कहीं न कहीं टिकाना ही पड़ेगा; यह चंचल मन कोई न कोई आधार ढूँढ़ता है अतएव इसे प्रभुजी के चरणों में लगा देने से ही परम शांति मिल सकती है।

जब सब कुछ नश्वर ही है तो ममत्व किसपर किया जाय ? संसार की सभी चीजें उठ जायँगी केवल परमात्मा की अनन्त सत्ता बनी रहेगी।

इन विरागात्मक पदों में संसार के प्रति उदासीनता का जो

इस देही का गरव न करना, माटी में मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्याँ उठ जासी।
कहा भयो है भगवा पहर्‌याँ, घर तज भये सन्यासी।
जोगी होय जुगति नहिं जाणी, उलटि जनम फिर आसी।
अरज करों अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी।

(११)

म्हाँरा सतगुर वेगा आज्यो जी म्हाँरे सुख री सीर वुवाज्यो जी।
तुम बीछड़ियाँ दुख पाऊँ जी मेरा मन माँही मुरझाऊँ जी।
मैं कोइल ज्यूं कुरलाऊँ जी कुछ बाहरि कहि न जणाऊँ जी।
मोहि बाघण बिरह सँतावे जी कोई कहियाँ पार न पावे जी।
ज्यूं जल त्याग्या मीना जी तुम दरसण बिन खीना जी।
ज्यूं चकवी रैंण न भावे जी वा ऊगो भाण सुहावे जी।
ऊ दिन कवै करोला जी म्हाँरे आँगण पाँव धरोला जी।
अरज करै मीराँ दासी जी गुरु पद रजकी मैं प्यासी जी।

भाव आया है यह वैरागियों की उदासीनता न समझ कर भक्त की ईश्वरोन्मुखता तथा एकान्त भगवदासक्ति समझनी चाहिये। मीरा के विराग का अर्थ हरि के प्रति अटूट अनुराग है।

(११) विरह की व्यथा को किसीपर प्रकट करते नहीं बनता। हृदय की वेदना बस मिश्री की डली की भाँति है, भीतर ही भीतर घुलती रहती है और सारे शरीर में, रोम रोम में भिन जाती है—कोई कहना चाहे भी तो कैसे कहे ?

मीरा उस दिन की उत्सुक प्रतीक्षा में है जब हरि जी उसके आँगन में आकर अपने आलिंगन के पाश में उसे बाँध लेंगे।

(१२)

री मेरे पार निकस गया सतगुर मारया तीर।
विरह भाल लगी उर अंतरि व्याकुल भया सरीर।
इत उत चित चलै नहिं कबहूँ डारी प्रेम जँजीर।
कै जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाणै पीर।
कहा करूँ मेरो बस नहिं सजनी नैन झरत दोउ नीर।
मीराँ कहै प्रभु तुम मिलियाँ बिनि प्राण धरत नहिं धीर।

(१३)

लगी मोहि राम खुमारी हो।
रमझम बरसै मेहड़ा भीजै तन सारी हो।
चहुँदिस चमकै दामणी गरजै घन भारी हो।
सतगुर भेद बताइया खोली भरम किंवारी हो।
सब घट दीसै आतमा सबही सूं न्यारी हो।
दीपक जोऊँ ग्यान का चढ़ूँ अगम अटारी हो।
मीराँ दासी रामकी इमरत बलिहारी हो।

---

(१२) इस अंधकारपूर्ण संसार में जहाँ अपना ही हाथ नहीं सूझता, पग पग पर गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। गुरु ही हमें इस निविड़ तम से हाथ पकड़ कर 'उस पार' पहुँचा सकता है।

(१३) सब घट दीसै आतमा सबही सूँ न्यारी हो—'वह' सर्वत्र ओतप्रोत है फिर भी निर्लिप्त है, स्वतंत्र है, जैसे मणियों में रमता हुआ, वेधता हुआ धागा।

(१४)

आली म्हाँने लागे वृन्दावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविंद जी को।
निरमल नीर बहत जमना में भोजन दूध दही को।
रतन सिंघासण आप विराजे मुगट धर्यो तुलसी को।
कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरली को॥
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको।

(१५)

चालो मन गंगा जमना तीर।
गंगा जमना निरमल पाणी सीतल होत सरीर।
बंसी बजावत गावत कान्हो संग लियाँ बलवीर॥
मोर मुकुट पीतांबर सोहै कुंडल झलकत हीर।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पै सीर॥

(१६)

जागो बंसीवारे ललना जागो मोरे प्यारे।
रजनी बीती भोर भयो है घर घर खुले किंवारे।
गोपी दही मथ सुनियत है कँगना के झनकारे।
उठो लाल जी भोर भयो है सुर नर ठाढ़े द्वारे॥
ग्वालबाल सब करत कुलाहल जयजय सबद उचारे।
माखन रोटी हाथ में लीनी गउवन के रखवारे॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सरण आयाँ को तारे।

(१७)

हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को।
मोर मुगट माथे तिलक बिराजै कुंडल अलका कारी को॥

अधर मधुर पर वंसी वजावै रीझ रिझावै राधाप्यारी को ।
यह छवि देख मगन भई मीराँ मोहन गिरवरधारी को ॥

(१८)

निपट वँकट छवि अटके ।
मेरे नैना निपट० ।
देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूखन मटके ।
वारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अति सुगंधरस अटके ॥
टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके ।
मीराँ प्रभु के रूप लुभानी गिरधर नागर नटके ॥

(१९)

या मोहन के मैं रूप लुभानी ।
सुंदर वदन कमल दल लोचन वाँकी चितवन मँद मुसकानी ।
जमना के तीरे तीरे धेन चरावै वंसी में गावै मीठी वानी ।
तन मन धर गिरधर पर वारूँ चरण कँवल मीराँ लपटानी ।

(२०)

या व्रज में कछु देख्यो री टोना ।
ले मटुकी सिर चली गुजरिया आगे मिले वावा नँदजी के छोना ।
दधि को नाम विसरि गयो प्यारी 'ले लेहुरी कोई स्याम सलोना' ।
विन्द्रावन की कुंज गलिन में आँख लगाइ गयो मन मोहना ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर सुंदर स्याम सुघर रस लोना ।

(२१)

हरि मेरे जीवन प्रान अधार ।
और आसिरो नाँही तुम विन तीनूँ लोक मँझार ।

---

(२१) आसिरो = भरोसा, सहारा, आधार ।

आप बिना मोहि कछु न सुहावे निरख्यौ सब संसार।
मीराँ कहै मैं दास रावरी दीज्यो मती बिसार।

(२२)

सखी मेरो कानूड़ो कलेजे की कोर।
मोर मुगट पीतांबर सोहै कुंडल की झकझोर।
बिन्द्रावन की कुंज गलिन में नाचत नंद किसोर।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चितचोर।

(२३)

माई री मैं तो गोविन्दो लीनो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लिनो री बजंता ढोल।
कोई कहै मुँहघो कोई सुहँघो लिनो री तराजू तोल।
कोई कहै कारो कोई गोरो लियो री अमोलिक मोल।
कोई कहै घर में, कोई कहै बन में राधा के संग किलोल।
मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्यो पूरब जनम को कोल।

(२४)

मैं गिरधर रँगराती, सैयाँ मैं०।
पचरँग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओहि झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।

---

(२४) खोल मिली तन गाती—निवारण होकर, सर्व शून्य होकर प्राणवल्लभ से मिली।

सैन बताई साँची—सत्य पथ की ओर संकेत किया, भगवान का सचा रास्ता सुझा दिया।

जिनका पिया परदेस वसत है लिखलिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीय वसत है ना कहुँ आती जाती।
चंदा जायगा सूरिज जायगा जायगी धरण अकासी।
पवन पाणी दोनुं ही जायँगे अटल रहै अविनासी।
सुरत निरत का दिवला सँजोले मनसा की करले वाती।
प्रेम हटी का तेल मँगाले जग रह्या दिन ते राती।
सतगुर मिलिया सांसा भाग्या सैन वताई साँची।
ना घर तेरा ना घर मेरा गावै मीराँ दासी।

(२५)

मीरा लागो रंग हरी, औरन रँग अटक परी।
चूड़ो म्हाँरे तिलक अरु माला, सील वरत सिणगारो।
और सिंगार म्हाँरे दाय न आवै, यो गुरु ज्ञान हमारो।
कोई निन्दो कोई विन्दो म्हें तो, गुण गोविंद का गास्याँ।
जिण मारग म्हाँरा साध पधारै, उण मारग म्हे जास्याँ।
चोरी न करस्याँ जिव न सतास्याँ, काँई करसी म्हारो कोइ।
गज से उतर के खर नहिं चढस्याँ, ये तो वात न होइ।

(२६)

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मांडि गुफा में वैठो ध्यान हरी को लगायो।
गल विच सेली हाथ हाजरियो अंग भभूति रमायो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सो ही पायो।

---

(२५) *cf* अवलों नसानी अवना नसैहों।

(२७)

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाँइ परूँ मैं चेरो तेरी हौं ।
प्रेम भगति को पैंडो ही न्यारो, हम कूँ गैल बता जा ।
अगर चँदण की चिता बणाऊँ, अपणे हाथ जला जा ।
जल बल भई भस्म की ढेरी, अपणे अंग लगा जा ।
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर, जोत में जोत मिला जा ।

(२८)

जावो निरमोहिया जाणी तेरी प्रीत ।
लगन लगी जदि प्रीत और ही अब कुछ और ही रीति ।
इमरत पाइ के विष क्यूं दीजे कूण गाँव की रीत ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी अपणी गरज के मीत ।

(२९)

जाया दे जाया दे जोगी, किसका मीत ।
सदा उदासि रहै मोरी सजनी निपट अटपटी रीत ।
बोलत बचन मधुर से मानूँ जोड़त नाहीं प्रीत ।
मैं जाणूँ या पार निभैगी छाँडि चले अधबीच ।
मीराँ के प्रभु स्याम मनोहर प्रेम पियारा मीत ।

(३०)

आली रे मेरे नैणाँ बाण पड़ी ।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी ।

---

(२७) जोत में जोत मिला जा—साधक साध्य की एकता, आत्मा का परमात्मा में लय ।

(२८) यहाँ इमरत (अमृत) और विष का अर्थ है मिलन जन्य आनंद और विरह-जन्य वेदना ।

कब की ठाढी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूर जड़ी।
मीराँ गिरधर हाथ विकानी, लोग कहैं बिगड़ी।

(३१)

प्रभुजी थे कहाँ गया नेहड़ी लगाय।
छोड़ गया बिस्वास सँगाती प्रेम की बाती बराय।
बिरह समँद में छोड़ गया छो नेह की नाव चलाय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्योइन जाय।

(३२)

जोगिया छाइ रह्या परदेस।
जब का बिछड़्या फेर न मिलिया बहोरि न दियो संदेस।
या तन ऊपर भसम रमाऊँ खोर करूँ सिर केस।
भगवाँ भेख धरूँ तुम कारण ढूँढत च्यारूँ देस।
मीराँ के प्रभु राम मिलणकूँ जीवनि जनम अनेस।

(३३)

सखी री लाज बैरण भई।
श्री लाल गोपाल के सँग काहे नाहीं गई।
कठिन क्रूर अक्रूर आयो साजि रथ कहँ नई।

---

(३२) देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं का अनुभव सभी प्रेमी करते हैं। प्राण नाथ के बिना चैन भी नहीं मिलती और जब 'वे' सामने आ जाते हैं तो आँखें लाज के मारे ढँप जाती हैं; पलकें गिर जाती हैं। फिर जब वह हृदय का सम्राट् आँखों से ओझल हो जाता है तो जी तड़फड़ाने लगता है और मन-ही-

रथ चढ़ाय गोपाल लैगो हाथ मींजत रह्यो ।
कठिन छाती स्याम बिछुरत बिरह तें तन तई ।
दासि मीराँ लाल गिरधर बिखर क्यों ना गई ।

(३४)

रमइया बिनि रह्योइ न जाइ ।
खान पान मोहि फीको सो लागै नैणा रहे मुरझाइ ।
बार बार मैं अरज करत हूँ रैण गई दिन जाइ ।
मीरा कहै हरि तुम मिलियाँ बिनि तरस तरस तन जाइ ।

(३५)

पीया बिनि रह्योइ न जाइ ।
तन मन मेरो पिया पर वारूँ बार बार बल जाइ ।
निसदिन जोऊँ बाट पिया की कबरे मिलोगे आइ ।
मीराँ के प्रभु आस तुमारी लीज्यौ कंठ लगाइ ।

मन हम अपने को धिक्कारने लगते हैं कि हम उसके विरह में अभी तक शरीर क्यों धारण किये हुए हैं—टूक-टूक क्यों नहीं हो जाते ? जब वे आये तो आँखें चुक गईं ! जब 'वे' चले गये तो फिर आँसुओं की रिमझिम ।

(३४-३७) इन पदों में विरह की उस उद्दीप्त दशा का वर्णन है जिसमें प्रिय के बिना एक क्षण का जीवन भी भार-स्वरूप हो जाता है; रोम-रोम से प्रियतम प्रियतम की झंकार होने लगती है ।

(३६)

स्याम सुँदर पर वार ।
जीवड़ा मैं वार डालूंगी स्याम० ।
तेरे कारण जोग धारणा लोक लाज कुल डार ।
तुम देख्याँ विन कल न पड़त है नैंन चलत दोउँ वार ।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी कठिन विरह की धार ।
मीराँ कहै प्रभु कव रे मिलोगे तुम चरणां आधार ।

(३७)

रमइया विनि यौ जिवड़ौ दुख पावै ।
कहो कुण धीर वँधावै ।
यौ संसार कुबधि को भाँडो साध सँगति नहिं भावै ।
राम नाम की निद्या ठाणै करम ही करम कुमावै ।
राम नाम विनि मुकुति न पावै फिर चौरासी जावै ।
साध सँगत में कवहुँ न जावै मूरिख जनम गुमावै ।
जन मीराँ सतगुर के सरणैं जीव परम पद पावै ।

(३८)

लागी सोही जाणै कठण लगण दी पीर ।
विपति पड़यां कोइ निकटि न आवै सुख में सवको सीर ।

---

(३८) प्रेमी का चित्त भीतर-ही-भीतर व्याकुल रहता है, वाहर से किसी को उसकी विकलता का पता पाना, असंभव है । प्रेम की अभिव्यक्ति (Expression) नहीं हो सकती, भीतर ही भीतर प्रेम की मिश्री घुलती रहती है, विरह का नशा छाता जाता है । सदकैं = सिदिक़ = निच्छावर, वलि

बाहरि घाव कछू नहिं दीसै रोम रोम दी पीर।
जन मीराँ गिरधर के ऊपर सदकै करूं सरीर।

(३९)

करणाँ सुणि स्याम मेरी।
मैं तो होइ रही चेरी तेरी।
दरसण कारण भई बावरी बिरह बिथा तन घेरी।
तेरे कारण जोगण हूँगी दूँगी नग्र बिच फेरी।
कुंज सब हेरी हेरी।
अंग भमूत गले म्रिघ छाला यो तन भसम करूँ री।
अजहुँ न मिल्या राम अविनासी बन बन बीच फिरूँ री।
रोऊँ नित टेरी टेरी।
जन मीराँकूँ गिरधर मिलिया दुख मेटल सुख भेरी।
रुम रुम साता भइ उर में मिटि गई फेराफेरी।
रहूँ चरननि तरि चेरी।

(४०)

होजी हरि कित गये नेह लगाय।
नेह लगाय मेरो मन हर लीयो रस भरि टेर सुनाय।
मेरे मन में ऐसी ऐसी आवै मरूं जहर बिस खाय।
छाडि गये बिसवासघात करि नेह केरी नाव चढ़ाय।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे रहे मधुपुरी छाय।

(४१)

हो गये स्याम दूइज के चंदा।
मधुबन जाइ भये मधुबनिया हम पर डारो प्रेमको फंदा।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर अब तो नेह परो कछुं मंदा।

(४२)

रे पपइया प्यारे कब को बैर चितारयो ।
मैं सूती छी अपने भवन में, पिय पिय करत पुकारयो ।
दाध्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़े करवत सारयो ।
उठि बैठो वो वृच्छ की डाली, बोल बोल कंठ सारयो ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरणाँ चित धारयो ।

(४३)

पपइया रे पिव की वाणि न बोल ।
सुणि पावेली बिरहणी रे थारी राखेली पाँख मरोड़ ।
चाँच कटाऊँ पपइया रे ऊपरि कालर लूण ।
पिव मेरा मैं पीव की रे तू पिव कहै स कूण ।
थारा सबद सुहावणा रे जो पिव मेला आज ।
चाँच मढाऊँ थारी सोवनी रे तू मेरे सिरताज ।

(४४)

प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ कउवा तू ले जाइ ।
जाइ प्रीतमजी सूँ यूँ कहै रे थाँरी बिरहणि धान न खाइ ।
मीराँ दासी व्याकुली रे पिव पिव करत बिहाइ ।
वेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिन रह्यौहि न जाइ ।

---

(४३) मिलन के समय सभी वस्तुएँ जो विरह के समय दुखद प्रतीत होती थीं, सुखद सोवनी सोने से मालूम होने लगती है । यदि प्रिय मिल जायँ तो मीरा पपीहे की चोंच को सोने से मढ़ाने की प्रतिज्ञा करती है । हिंदी में ठीक ऐसे ही भाव की बहुत कविताएँ हैं ।

(४५)

माई म्हारी हरि हू न बूझी बात।
पड माँसूँ प्राण पापी निकसि क्यूँ नहीं जात।
पाट न खोल्या मुखाँ न बोल्या साँझ भई परभात।
अबोलणां जुग बीतण लागो तो काहे की कुसलात।
सावण आवण कह गया रे हरि आवण की आस।
रैण अँधेरी बीज चमंके तारा गिणत निरास।
लेइ कटारी कंठ सारू मरूँगी बिष खाइ।
मीराँ दासी राम राती लालच रही ललचाइ।

(४६)

भवनपति तुम घरि आज्यो हो।
बिथा लगी तन माहिं ने (म्हारी) तपत बुझाज्यो हो।
रोवत रोवत डोलतां सब रैण बिहावैहो।
भूख गई निदरा गई पापी जीव न जावै हो।
दुखिया कूँ सुखिया करो मोहि दरसण दीजै हो।
मीराँ व्याकुल बिरहणी अब बिलम न कीजै हो।

(४७)

पिया मोहि दरसण दीजै हो।
बेर बेर मैं टेरहूँ अहे क्रिपा कीजै हो।
जेठ महीने जल बिना पंछी दुख होई हो।

---

(४७) मीरा में बारहमासे का यही एक चलता सा चित्र मिलता है। पाठक देखेंगे कि मीरा का हृदय प्रकृति के रूप-विलास पर न रमकर केवल उन्हीं वस्तुओं की ओर आकृष्ट

मोर असाढाँ कुरलहे घन चात्रग सोई हो।
सावण में झड़ लागियौ सखि तीजाँ खेलै हो।
भादरवै नदियाँ वहै दूरी जिन मेलै हो।
सीप स्वाति ही झेलती आसोजां सोई हो।
देव काती में पूजहे मेरे तुम होई हो।
मगसर ठंड बहोती पड़ै मोहि वेगि सम्हालो हो।
पोस महीं पाला घणा अबही तुम न्हालो हो।
महा महीं बसंत पंचमी फागाँ सब गावै हो।
फागुण फागां खेलहैं वणराइ जरावै हो।
चैत चित्त में ऊपजी दरसण तुम दीजे हो।
वैसाख वणराइ फूलवै कोइल कुरलीजै हो।
काग उडावत दिन गया बूझूँ पंडित जोसी हो।
मीराँ बिरहणि व्याकुली दरसण कब होसी हो।

(४८)

हे मेरो मन मोहना।
आयो नहीं सखीरी। हे०।
कैं कहुँ काज किया संतन का कैं कहुँ गैल भुलावना।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी लाग्यो है बिरह सँतावना।
मीराँ दासी दरसण प्यासी हरि चरणां चित लावना।

(४९)

जोगिया जी निसि दिन जोऊं वाट।
पाँव न चालै पंथ दुहेलो आडा औघट घाट।

हुआ है जो विरह को उभारनेवाले तथा संवेदन को उत्तेजित करनेवाले हैं।

नगर आइ जोगी रम गया रे मो मन प्रीत न पाइ।
मैं भोली भोलापण कीन्हो राख्यो नहिं बिलमाइ।
जोगिया कूँ जोवत घोहो दिन बीता अजहूँ आयो नाहिं।
बिरह बुझावत अन्तरि आवो तपत लगी तन माहिं।
कै तो जोगी जग में नहीं कै रे बिसारी मोइ।
काँइ करूं कित जाऊँ री सजनी नैण गुमाया रोइ।
आरति तेरी अंतरि मेरे आवो अपणी जाणि।
मीर व्याकुल बिरहणी रे तुम बिनि तलफत प्राणि।

(५०)

म्हारे घर रमतो ही आई रे तू जोगिया।
कानाँ बिच कुंडल गले बिच सेली अंग भभूत रमाई रे।
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है ग्रिह अँगणो न सुहाई रे।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी दरसण द्यो मोकूँ आई रे।

(५१)

म्हाँरे घर होता आज्यो राज।
अब के जिन टाला दे जावो सिर पर राखूँ बिराज।
म्हे तो जनम जनम की दासी थे म्हाँका सिरताज।

---

(५०) प्राणनाथ के बिना घर आंगन काटने दौड़ता है और जीवन दूभर हो उठता है।

(५१) भक्ति का बहुत ही प्रस्फुटित रूप इस पद में मिलता है। भक्त सर्व भावेन भगवान की शरण में चला जाता है और भक्त के योग क्षेम का सारा भार भगवान के ऊपर चला जाता है।

पावणड़ा म्हाँके भलाँ ही पधारो सब ही सुधारण काज।
म्हे तो बुरी छाँ थाँके भली छै घणेरी तुम हो एक रसराज।
थाँने हम सबहिनकी चिंता तुम सबके हो गरिब निवाज।
सबके मुगट सिरोमनि सिर पर मानुँ पुण्य को पाज।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बाँह गहे की लाज।

(५२)

सजन सुध ज्यूं जाणे ज्यूं लीजै हो।
तुम बिन मोरे और न कोई क्रिपा रावरी कीजै हो।
दिन नहिं भूख रैण नहिं निंदरा यूं तन पल पल छीजै हो।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछड़न मत कीजै हो।

(५३)

घड़ी एक नहिं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, का सूँ जीवण होय।
धान न भावै नींद न आवै, बिरह सतावै मोय।
घायल सी घूमत फिरूँ रे, मेरो दरद न जाणे कोय।
दिवस तो खाय गमाइयो रे, रैण गमाई सोइ।
प्राण गमायो झूरताँ रे, नैण गमाया रोइ।
जो मैं ऐसी जाणती रे, प्रीत कियाँ दुख होइ।
नगर ढँढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोइ।

---

(५३) यहाँ सूरदास का 'प्रीति करि काहू सुख ना लह्यो' वाला पद मिलाना चाहिये। जब 'वह' प्राण है तो उसके बिना जीना संभव कैसे हो सकता है?

तीव्र प्रतीक्षा में जीवन की घड़ियाँ कट रही हैं।

पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोइ।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होइ।

(५४)

बादल देख डरी हो स्याम मैं बादल देख डरी।
काली पीली घटा ऊमटी बरस्यो एक घरी।
जित जाऊँ तित पाणी पाणी हुई हुई भोम हरी।
जाका पिय परदेस बसत है भीजूँ बहार खरी।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी कीज्यौ प्रीत खरी।

(५५)

बरसै बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, दामण दमक भर लावन की।
नन्हीं नन्हीं बूँदन मेहा बरसै, सीतल पवन सोहावन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आनँदमंगल गावन की।

(५६)

मेरे प्रीतम प्यारे राम कूं लिख भेजूँ रे पाती।
स्याम सनेसो कबहुँ न दीन्हो जानि बूझ गुझवाती।
डगर बुहारूँ पंथ निहारूँ जोइ जोइ अँखियाँ राती।
राति दिवस मोहि कल न पड़त है हीयो फटत मेरी छाती।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे पूरब जनम का साथी।

---

(५५) यहाँ 'भनक सुनी हरि आवन की' के माधुर्य पर ध्यान दीजिए।

(५६) गुझवाती = मनही मन घुंघुआना।

(५७)

डारि गयो मन मोहन पासी।

आँवा की डालि कोइल इक बोलै मेरो मरण अरु जग केरो हाँसी।

विरह की मारी मैं वनवन डोलूँ प्रान तजूं करवत ल्यूं कासी।

मीराँ के प्रभु हरि अविनासी तुम मेरे ठाकुर मैं तेरी दासी।

(५८)

प्रभु बिन ना सरै माई।

मेरा प्रान निकस्या जात हरी बिन ना सरै माई।

कमठ दादुर बसत जल में जल से उपजाई।

मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई।

काठ लकरी वन परी काठ घुन खाई।

ले अगन प्रभु डार आये भसम हो जाई।

वन वन ढूँढत मैं फिरी आली सुधि नहिं पाई।

एक वेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई।

पात ज्यों पीरी परी अरु विपत तन छाई।

दास मीराँ लाल गिरधर मिल्या सुख छाई।

(५९)

हमने सुनी छै हरि अधम उधारन।

अधम उधारन सब जग तारन। हमने०

गज की अरजि गरजि उठि ध्यायो संकट पड़्यौ तब कष्ट निवारन।

द्रोपतिसुता को चीर बढ़ायो दूसासन को मान मद मारन।

प्रहलाद की प्रतग्या राखी हरणाकुस नख उद्र बिदारण।

रिख पतनी पर किरपा कीन्ही विप्र सुदामाँ की विपति विदारण।

मीराँ के प्रभु मो वंदी परि एती अवेरि भई किस कारण।

(६०)

दरसन बिन दूखण लागे नैन
जब के तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहु न पायो चैन।
सबद सुणत मेरी छतियाँ काँपे मीठे मीठे बैन।
बिरह कथा कासूं कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन।
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैण।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटण सुख दैण।

(६१)

हेरी मैं तो दरद दिवाणो मेरा दरद न जाणै कोइ।
घाइल की गति घाइल जाणैं की जिण लाई होइ।
जौहरि की गति जौहरी जाणैं की जिन जौहर होइ।
सूली ऊपरि सेज हमारी सोवणा किस बिध होइ।
गगन मँडल पै सेज पिया की किस बिध मिलणा होइ।
दरद की मारी बन बन डोलूं बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीराँ की प्रभु पीर मिटेगी जब बैद साँवलिया होइ।

(६२)

नातो नाम को मोसो सूँ तनक न तोड़्यो जाइ।
पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहे पिंड रोग।
छाने लाँघण मैं किया रे, राम मिलण के जोग।
बावल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हाँरी बाँह।
मूरिख बैद मरम नहिं जाणे, करक कलेजा माँह।

---

(६०) छमासी रैन = बिरह की रात इतनी लंबी होती है कि काटे नहीं कटती।

जा वैद्या घरि आपणे रे, मेरो नाँव न लेइ।
मैं तो दाधी विरह की रे, तू काहे कू दारू देह।
माँस गले गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
आँगलियाँ रो मूदड़ो, (म्हारे आवण लागो बाँहि।
रहो रहो पापी पपीहा रे, पिव को नाम न लेइ।
जे कोइ विरह साम्हले, (सजनी) पिव कारण जीव देइ।
खिण मन्दिर खिण आँगणे रे, खिण खिण ठाढी होय।
घायल ज्यूं घूमूँ सदारी, (म्हारी) विथा न बूझै कोय।
काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाइ।
ज्याँ देसाँ म्हाँरो पिव बसै (सजनी) वे देखै तू खाइ।
म्हाँरे नातो नाँव को रे, और न नातो कोइ।
मीराँ व्याकुल विरहणी रे, (पिया) दरसण दीजो मोइ।

(६३)

मैं विरहणि बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली।
विरहणि बैठी रंगमहल में, मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहणि हम ऐसी देखी, अँसुवन की माला पोवै।
तारा गिण गिण रैण विहानी, सुख की घड़ी कब आवै।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मिल के बिछुड़ न जावै।

(६४)

जोगिया ने कहज्यो जी आदेस।
जोगियो चतुर सुजाण सजनी ध्यावै संकर सेस।
आऊँगी मैं नाह रहूँगी (रे म्हारा) पीव विना परदेस।
करि किरपा प्रतिपाल मो परि रखो न अपणें देस।
माला मुदरा मेखला रे वाला खप्पर लूँगी हाथ।

जोगणि होइ जुग ढूँढसूँ रे म्हारा रावलियारी साथ ।
सावण आवण कह गया वाला कर गया कौल अनेक ।
गिणता गिणता घिस गई रे म्हारा आंगलियाँ री रेख ।।
पीव कारण पीली पड़ी वाला जोबन वाली वेस ।
दास मीरा राम भजि के तन मन कीन्हो पेस ।

(६५)

कुण बाँचै पाती, बिन प्रभु कुण बाँचै पाती ।
कागद ले ऊधो जी आयो, कहाँ रह्या साथी ।
आवत जावत पाँव घिस्यारे (वाला) अँखियाँ भई राती ।
कागद ले राधा बाँचण बैठी, भर आई छाती ।
नैण नीरज में अंब बहे रे (वाला), गंगा बहि जाती ।
पाना ज्यूं पीली पड़ी रे (वाला), अन्न नहिं खाती ।
हरि बिन जिवड़ो यूँ जलैरे (वाला), ज्यूँ दीपक संग बाती ।
म्हने भरोसो राम को रे (वाला) डूब तर्‌यो हाथी ।
दास मीराँ लाल गिरधर, साँकड़ारो साथी ।

(६६)

परम सनेही रामकी निति ओळूँ रे आवै ।

---

(६५) विरह की दशा में प्रियतम की स्मरण दिलाने वाली सभी वस्तुएँ उद्दीपन हो जाती हैं और आश्वासन हृदय को सालने लगता है । प्राणनाथ का अभाव बुरी तरह खलने लगता है । स्मृति विरह को अत्यधिक उभार देती है ।

(६६) राम हमारे हम हैं राम के भक्त भगवान में अपने को समर्पित करते हुए एक अपूर्व अधिकार का अनुभव करता है ।

राम हमारे हम हैं राम के हरि विन कछू न सुहावै।
आवण कह गये अजहुँ न आये जिवड़ो अति उकलावै।
तुम दरसन की आस रमैया कव हरि दरस दिखावै।
चरण कँवल की लगनि लगी नित विन दरसण दुख पावै।
मीराँ कुँ प्रभु दरसण दीज्यौ आणँद वरण्यूँ न जावै।

(६७)

पिय विनि सूनो छै जी म्हाँरो देस।
ऐसा है कोई पीवकूं मिलावै तन मन करूँ सव पेस।
तेरे कारण वन वन वन डोलूँ कर जोगण को भेस।
अवधि वढीती अजूँ न आए पंडर होइ गया केस।
मीराँ के प्रभु कव र मिलोगे तजि दियो नगर नरेस।

(६८)

जोगिया जी आवो ने या देस।
नैण ज देखूँ नाथ मेरो ध्याइ करूँ आदेस।
आया सावण मास सजनी भरे जल थल ताल।
रावल कुण विलमाइ राखो विरहनि है वेहाल।
वीछड़ियाँ कोइ भौ भयो (रे जोगी) ऐ दिन अहला जाय।
एक वेरी देह फेरी नगर हमारे आइ।
वा मूरति मेरे मन वसे (रे जोगी) छिन भरि रह्यो इ न जाइ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी दरसण द्यौ हरि आइ।

---

(६८) सावन भादो के महीने विरहिणियों को वहुत ही दुखदायी होते हैं।

(६९)

राम मिलण रो घणो उमावो नित उठ जोऊँ वाटड़ियाँ।
दरस बिना मोहि कछु न सुहावै जक न पड़त है आँखड़ियाँ।
तलफत तलफत बहु दिन बीता पड़ी बिरह की पासड़ियाँ।
अब तो बेगि दया करि साहिब मैं तो तुम्हारी दासड़ियाँ।
नैण दुखी दरसण कूँ तरसैं नाभि न बैठे सासड़ियाँ।
राति दिवस यह आरति मेरे कब हरि राखे पासड़ियाँ।
लगी लगनि छूटण की नाहीं अब क्यूँ कीजे आंटड़ियाँ।
मीराँ के प्रभु कब र मिलोगे पूरो मन की आसड़ियाँ।

(७०)

आवो सहेल्यां रली करॉं हे पर घर गवण निवारि।
झूठा माणिक मोतिया री झूठी जगमग जोति।
झूठा सब आभूखण री साँची पियाजी री प्रीति।
झूठा पाट पटंबरा रे झूठा दिखणी चीर।
साँची पियाजीरी गूदड़ी जामें निरमल रहे सरीर।
छप्पन भोग बुहाइ दे हे इन भोगनि में दाग।
लूण अलूणो ही भलो हे अपणे पियाजी को साग।
देखि बिराणे निवांण कूँ हे क्यूँ उपजावै खीज।
कालर अपणो ही भलो हे जामें निपजै चीज।
छैल बिराणो लाख को हे अपणे काज न होइ।

(७०) जिस प्रकार पति-परायणा सती-साध्वी स्त्री अपने प्राणनाथ के सिवा किसी का ध्यान नहीं करती उसी प्रकार भक्त भी अपने 'हरि' के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता।

ताके सँग धीरताँ हे भला न कहसी कोइ।
वर हीणो अपणो भलो हे कोढी कुष्टी कोइ।
जाके सँग सीधारताँ हे भला कहै सब लोइ।
अविनासीसूँ वालवा हे जिनसूँ साँची प्रीति।
मीराँ कूँ प्रभू मिल्या हे ए ही भगति की रीत।

(७१)

कोई कहियौ रे प्रभु आवन की।
आवन की मनभावन की कोई०।
आप न आवै लिख नहिं भेजै बाँण पड़ी ललचावन की।
ए दोइ नैण कह्यौ नहिं मानै नदियाँ वहै जैसे सावन की।
कहा करूँ कछु नहिं वस मेरो पाँख नहीं उड़ जावन की।
मीरा कहै प्रभु कव र मिलोगे चेरी भइ हूँ तेरे दाँवन की।

(७२)

मैं जाण्यो नाहीं प्रभु को मिलण कैसे होइ री।
आये मेरे सजना फिरि गये अँगना मैं अभागण रही सोइ री।
फारूँगी चीर करूँ गल कंथा रहूँगी वैरागण होइ री।

---

(७१) वाँण = आदत। दाँवन = दामन।

प्रेम में उलझा कर 'वह' चला गया। एक वार हृदय को चुरा कर 'वह' गायब हो गया और अब सुध भी लेने की सुध नहीं है।

(७२) एक वार स्वप्न में 'वह' आया। मिलने के लिए भुजाएँ बढ़ाई कि वह 'छलिया' खिसक गया। मिलन का 'सुख' जान भी न पाई।

चुरियाँ फोरूँ माँग बखेरूँ कजरा मैं डारूँ धोइ री।
निस बासर मोहि बिरह सतावै कल न परत पल मोइ री।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी मिलि बिछुरो मति कोइ री।

(७३)

चालाँ वाही देस प्रीतम रावाँ चालाँ वाही देस।
कहो कसूमल साड़ी रंगावाँ कहो तो भगवाँ भेस।
कहो तो मोतियन माँग भरावाँ कहो छिटकावा केस।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर सुण्ज्यो बिड़द नरेस।

(७४)

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैल चढे चढि जोऊँ मेरी सजनी कब आवै माहाराज।
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज।
उमँग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै दामणि छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलण कै काज।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी बेग मिलो महाराज।

(७५)

बदला रे तू जल भरि ले आयो।

---

(७३) 'वह' जिस भेष में मिले वही भेष भक्त को प्रिय लगता है।

(७४) समस्त प्रकृति, निरावृत हो कर अपने 'जीवन-धन' से मिल रही है उस समय मीरा को हरि का वियोग बहुत खलता है और बार बार वह महल पर चढ़ कर 'उन' के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है।

छोटी छोटी बूँदन बरसन लागी कोयल सबद सुनायो।
गाजै बाजै पवन मधुरिया अंबर बदरां छायो।
सेझ सँवारी पिय घर आये हिल-मिल मंगल गायो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी भाग भलो जिन पायो।

(७६)

आवो मन मोहना जी जोऊँ थाँरी बाट।
खान पान मोहि नेक न भावै नैण न लगे कपाट।
तुम आयाँ बिनि सुख नहिं मेरे दिल में बहोत उचाट।
मीराँ कहै मैं भई रावरी छाँड़ो नांहि निराट।

(७७)

आवो मन मोहना जी मीठा थांरा बोल।
बालपनां की प्रीत रमइयाजी कदे नहिं आयो थारो तोल।
दरसण बिन मोहि जक न परत है चित मेरो डावाँडोल।
मीराँ कहै मैं भई रावरी कहो तो बजाऊँ ढोल।

(७८)

सोवत ही पलका में मैं तो पलक लगी पल में पीव आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ, जाग परी पीव ढूँढ न पाये।
और सखी पिव सोइ गमाये, मैं जु सखी पिव जागि गमाये।

(७९)

जोसीड़ा ने लाख बधाई रे अब घर आये स्याम।

---

(७९) एक बार, बस एक बार यदि आँखें 'उसे' देख पायें तो जन्म-जन्म के लिए हृदय जुड़ा जाय, प्राण अघा जायँ, तृप्त हो जायँ।

आजि आनँद उमँगि भयो है जीव लहै सुखधाम।
पाँच सखी मिलि पीव परसिकैं आनँद ठामूँ ठाम।
बिसरि गई दुख निरखि पियाकूँ सुफल मनोरथ काम।
मीराँ के सुखसागर स्वामी भवन गवन कियो राम।

(८०)

सहेलियाँ साजन घरि आया हो।
बहोत दिनाँ की जोवती बिरहणि पिव पाया हो।
रतन करूँ नेवछावरी ले आरति साजूँ हो।
पिया का दिया सनेसड़ा ताहि बहोत निवाजूँ हो।
पाँच सखी इकठी भई मिलि मंगल गावै हो।
पिय का रली बधावणां आणँद अंगि न मावै हो।
हरि सागर सूँ नेहरो नैणाँ बँध्या सनेह हो।
मीराँ सखी के आँगणै दूधां बूठा मेह हो।

(८१)

म्हारा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया हिल-मिल मंगल गाया जी।

---

(८०) इस पद में मिलन के आनंद की उत्कृष्ट व्यंजना है। जी चाहता है लोक की सभी संपदा प्रभुजी के चरणों में चढ़ा दी जाय।

(८१) एक बार प्रभु के शीतल अमृत स्पर्श का अनुभव कर लेने पर हृदय की सारी व्यथा मिट जाती है और जन्म २ के संकट मिट जाते हैं। हृदय में एक अपूर्व आधार और भरोसा का अनुभव होने लगता है।

घनकी धुनि सुनि मोर मगन भया यूँ मेरे आणँद आया जी।
मगन भई मिलि प्रभु अपणासूँ भौ का दरद मिटाया जी।
चंद कूँ देखि कमोदणि फूले हरखि भया मेरी काया जी।
रगरग सीतल भई मेरी सजनी हरि मेरे महल सिधाया जी।
सब भगतन का कारज कीन्हा सोई प्रभु मैं पाया जी।
मीराँ विरहणि सीतल होई दुख दुन्द दूरि न्हसाया जी।

(८२)

पिया जी म्हाँरे नैणाँ आगे रहज्यो जी।
नैणाँ आगे रहज्यो, म्हाँने भूल मत जाज्यो जी।
भौ सागर में बही जात हूँ, वेग म्हारी सुध लीज्यो जी।
राणा जी भेज्या विख का प्याला, सो इमरित कर दीज्यो जी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मिल बिछुड़न मत कीज्यो जी।

(८३)

अस प्रभु जाण न दीजै हो।
तन मन धन करि वारणै हिरदे धरि लीजै हो।
आव सखी मुख देखिये नैणाँ रस पीजै हो।
जिह जिह विधि रीझै हरी सोई विधि कीजै हो।

---

(८२) भक्त की यह उत्कट कामना होती है कि प्रभुजी सदा सामने रहें। प्रेमी अपने प्रियपात्र को सदा अपनी आँखों के सामने देखना चाहता है। सहारा भी तो केवल उसी 'एक' का है।

(८३) आज अब 'उन्हें' पाकर हृदय की कोठरी में बंद कर लूँगी और कभी भी भागने न दूँगी। ऐसी मनोहर छवि से अलग रह कर एक क्षण भी जीवन असंभव है।

सुन्दर स्याम सुहावणा मुख देख्याँ जीजै हो।
मीराँ के प्रभु रामजी बड़ भागण रीझै हो।

(८४)

नंद नँदन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई।
इत घन लरजे उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिस से आया, पवन चले पुरवाई।
दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल सबद सुणाई।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल चित लाई।

(८५)

तनक हरि चितवौ जी मोरी ओर।
हम चितवत तुम चितवत नांही दिल के बड़े कठोर।
मेरे आसा चितवनि तुमरी और न दूजी दोर।
तुमसे हमकूँ कब र मिलोगे हमसी लाख करोर।
ऊभी ठाढी अरज करत हूँ अरज करत भयो भोर।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी देस्यूँ प्राण अकोर।

(८६)

जागो म्हाँरा जगपति राइक हँसि बोलो क्यूँ नहीं।
हरि छो जी हिरदा मांहि पट खोलो क्यूँ नहीं।
तन मन सुरति सँजोइ सीस चरणाँ धरूँ।
जहाँ जहाँ देखूँ म्हारो राम जहाँ सेवा करूँ।
सदकै करूँ जी सरीर जुगै जुग वारणैं।
छोडी छोडी कुल की लाज साहिब तेरे कारणैं।
थोड़ी थोड़ी लिखूँ सिलाम बहोत करि जाणज्यो।
बंदी हूँ खानाजाद महरि करि मानज्यो।

हाँ हो म्हारा नाथ सुनाथ बिमल नहिं कीजियै।
मीराँ चरणाँ की दास दरस अब दीजियै।

(८७)

धूतारा जोगी एकर सूँ हँसि बोल।
जगत बदीत करी मनमोहन कहा बजावत ढोल।
अंग भभूति गले म्रिघछाला तू जन गुढियाँ खोल।
सदन सरोज बदन की सोभा ऊभी जोऊँ कपोल।
सेली नाद बभूत न बटवो अजूँ मुनी मुख खोल।
चढ़ती बैस नैण अणियाले तूँ घरि घरि मत डोल।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी चेरी भई बिन मोल।

(८८)

रे साँवलिया म्हाँरे आज रँगीली गणगोर छै जी।
काली पीली बदली में बिजली चमके, मेघ घटा घन घोर छै जी।
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल कर रही सोर छै जी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरणाँ में म्हाँरो जोर छै जी।

(८९)

गली तो चारों बन्द हुई, मैं हरि से मिलूँ कैसे जाइ।
ऊँची नीची राह लपटीली, पाँव नहीं ठहराइ।
सोच सोच पग धरूँ जतन से, बार बार ढिग जाइ।
ऊँचा नीचा महल पिया का, हमसे चढ्या न जाइ।
पिया दूर पंथ म्हाँरा झीणा, सुरत झकोला खाइ।

---

(८९) यहाँ भक्ति-पथ में आने वाले विघ्नों की विकरालता तथा अपने साधन की दुर्बलता पर जोर दिया गया है।

(९०)

नहिं ऐसो जनम बारंबार।
का जानूं कछु पुण्य प्रगटे मानुसा अवतार।
बढ़त छिन छिन घटत पल पल जात न लागे बार।
बिरछ के ज्यों पात टूटे, लागे बहुरि न डार।
भौसागर अति जोर कहिये विषम ओखो धार।
राम नाम का बाँध बेड़ा बेगि उतरे पार।
ज्ञान-चौसर मंडी चोहटे सुरत पासा सार।
या दुनिया में रची बाजी जीत भावें हार।
साधु संत महंत ज्ञानी चलत करत पुकार।
दास मीरा लाल गिरधर जीवणा दिन च्यार।

(९१)

चालो अगम के देस काल देखत डरै।
वहाँ भरा प्रेम का हौज हँस केलाँ करै।

---

(९०) इस चार दिन के जीवन में जागरूक हो कर हमें हरि-भक्ति में लग जाना होगा। बार बार ऐसा मनुष्य-जन्म नहीं मिलता। यह तो पूर्वजन्म के कुछ पुण्य का प्रभाव है। यह जीवन तो एक बाजी है। चौराहे पर बाजार लगा हुआ है यहाँ सुरत के पासे से ज्ञान का चौसर खेला जा रहा है यदि कोई सतर्क हो कर खेल सका तो जीता नहीं तो गया।

(९१) यहाँ रूपक द्वारा बहुत ही सुंदर भाव-व्यञ्जना हुई है पति से मिलने के लिए पत्नी कैसा कैसा शृंगार सजाती है! 'साँवलिया सूँ प्रीति औरे सूँ आसदी' का अर्थ यह है कि हमारी

ओढण लज्जा चीर धीरज को घाघरो।
छिमता कॉंकण हाथ सुमत को मून्दरो।
दिल दुलड़ी दरियाव सॉंच को दोवड़ो।
उवटण गुरु को ज्ञान ध्यान को धोवणो।
कान अखोटा ज्ञान जुगत को मूटणो।
वेसर हरिको नाम चूड़ो चित्त ऊजलो।
जीहर सोल सँतोष निरत को घूँघरो।
बिंदली गज और हार तिलक गुरु ज्ञान को।
सज सोलह सिणगार पहरि सोने राखड़ी।
सॉंवलिया सूँ प्रीति औरॉं सूँ आखड़ी।

(९२)

राम मोरी बॉंहड़ली जी गहो।
या भवसागर मंझधार में थे ही निभावण हो।
म्हॉं में ओगण घणा छे हो प्रभुजी थे ही सहो तो सहो।
मीरॉं के प्रभु हरि अविनासी लाज विरद की वहो।

आँखे संसार पर भले ही जायँ परन्तु प्रीति तो केवल 'हरि' से ही है। संसार हमारे अनन्य प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता। प्रेम तो बस कृष्ण के ही लिए है, हृदय 'सॉंवलिया' पर निछावर हो चुका है।

(९२) हे प्रभो ! मेरी बॉंह पकड़ कर मुझे इस भवसागर से उबार लो। बॉंह गहे की लाज को तुम्हें ही निभाना है। मेरे भीतर अगणित अवगुण हैं—इन्हें तुम्हें ही सहना पड़ेगा—अब तो अपने विरद की लाज बचाओ।

(९३)

हरि बिन कूण गती मेरी।
तुम मेरे प्रतिपाल कहिये मैं रावरी चेरी।
आदि अंत निज नाँव तेरो हीया में फेरी।
बेरि बेरि पुकारि कहूँ प्रभु आरति है तेरी।
यौ संसार विकार सागर बीच में घेरी।
नाव फाटी प्रभु पालि बाँधो बूडत है बेरी।
बिरहणि पिव की बाट जोवै राखिल्यौ नेरी।
दास मीरां राम रटत है मैं सरणि हूँ तेरी।

(९४)

मेरो मन रामहि राम रटै रे।
राम नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।
जनम-जनम के खत जु पुराने, नामहि लेत फटै रे।
कनक कटोरे इम्रत भरियो, पीवत कौन नटै रे।
मीराँ कहै प्रभु हरि अविनासी, तनमन ताहि पटै रे।

(९५)

करम गत टारे नाहिं टरे।
सतवादी हरिचँद से राजा, सो तो नीच घर नीर भरे।
पाँच पांडु अरु सती द्रोपदी, हाड हिमाले गरे।
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासण, सो पाताल धरे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, निख से अम्रित करे।

(९६)

राणा जी म्हें तो गोबिंद का गुण गास्याँ।
चरणाम्रित को नेम हमारे, नित उठ दरसण जास्याँ।

हरि मन्दिर में निरत करायाँ, घूँघरिया घमकास्याँ।
राम नाम का झाम चलास्याँ, भवसागर तर जास्याँ।
यह संसार बाड़ का काँटा, ज्याँ संगत नहिं जास्याँ।
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर, निरख परख गुण गास्याँ।

(९७)

बड़े घर ताली लागी रे, म्हाराँ मन री उणारथ भागी रे।
छीलरिये म्हाँरो चित नहीं रे, डाबरिये कुण जाव।
गंगा जमना सूँ काम नहीं रे, मैं तो जाइ मिलूँ दरियाव।
हाल्याँ मोल्याँ सूँ काम नहीं रे, सीख नहीं सिरदार।
काम दाराँ सूँ काम नहीं रे, मैं तो जाव करूँ दरबार।
काच कथीर सूँ काम नही रे, लोहा चढ़े सिर भार।
सोना रूपा सूँ काम नहीं रे, म्हाँरे हीराँ रो बौपार।
भाग हमारो जागियो रे, भयो समँद सूँ सीर।
इम्रित प्याला छाँड़ि कै, कुण पीवै कड़वो नीर।
पीपा कूँ प्रभु परचो दीन्हो, दिया रे खजाना पूर।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, धणी मिल्या छै हजूर।

(९८)

राणा जी थे क्याँने राखो म्हाँसूँ वैर।
थे तो राणाजी म्हाने इसड़ा लागो ज्यों ग्रच्छन में कैर।
महल ग्रटारी हम सब त्याग्या त्याग्यो थाँरो बसनीं सहर।

---

(९७) जब स्वयं 'महाराज' से ही भेंट हो गई तो इन ग्रगलों की ग्रोर क्या देखना ?

काजल टीकी राणा हम सब त्याग्या भगवीं चादर पहर।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर इमरित कर दियो जहर।

(९९)

पायो जी मैंने राम-रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुर करि किरपा अपणायो।
जनम जनम की पूँजी पाई जग में सबै खोवायो।
खरचै नहिं कोई चोर ना लेवै दिन दिन बढ़त सवायो।
सत की नाव खेवटिया सतगुर भवसागर तरि आयो।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर हरखि हरखि जस गायो।

(१००)

राम मिलण के काज सखी मेरे आरति उर में जागी री।
तलफत तलफत कल न परत है बिरहबाण उरि लागी री।
निस दिन पंथ निहारूँ पीव को पलक न पल भरि लागी री।
पीव पीव मैं रटूँ राति दिन दूजी सुधि बुधि भागी री।
बिरह भवँग मेरो डस्यो है कलेजो लहरि हलाहल जागी री।
मेरी आरति मेटि गुसाईं आइ मिलौ मोहिं सागी री।
मीराँ व्याकुल अति उकलाणी पिया की उमँग अति लागी री।

(१०१)

मैं गोविंद गुण गाणा।
राजा रूठै नगरी राखै हरि रूठ्याँ कहँ जाणा।
राणै भेज्या जहर पियाला इमिरत करि पीजाणा।
डबिया में भेज्या ज भुजंगम सालिगराम करि जाणा।
मीराँ तो अब प्रेम दिवांणी सांवलिया वर पाणा।

(१०२)

वरजो मैं काहू की नांहि रहूँ।
सुनो री सखी तुम चेतन होइकै मन की बात कहूँ।
साध सँगति करि हरि सुख लीजै जगसूँ दूरि रहूँ।
तन धन मेरो सबही जावो भलि मेरो सीस लहूँ।
मन मेरो लागो सुमरण सेती सबका मैं बोल सहूँ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी सतगुर सरण गहूँ।

(१०३)

तेरो कोई नहिं रोकणहार मगन होइ मीराँ चली।
लाज सरम कुल की मर्जादा सिर सैं दूरि करी।
मान अपमान दोउ धर पटके निकसी हूँ ग्यान गली।
ऊँची अटरिया लाल किंवड़िया निरगुण सेज बिछी।
पँचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली।
बाजूबन्द कडला सोहै सिन्दुर माँग भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक खरी।
सेज सुखमणा मीरा सोहै सुभ है आज घरी।
तुम जावो राणा घर अपणे मेरी तेरी नाँही सरी।

(१०४)

मैं अपने सैयाँ सँग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट है नाची।
दिवस भूख न चैन कबहूँ नींद निसि नासी।
बेधि बार-पार हैगो ग्यान गुह गाँसी।
कुल कुटंबी आन बैठे मनहु मधुमासी।
दासी मीराँ लाल गिरधर मिटी जग हाँसी।

(१०५)

श्री गिरधर आगे नाचूँगी ।
नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाचूँगी ।
प्रेम प्रीति को बाँधि घूँघरू सुरत की कछनी काछूँगी ।
लोक लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी ।
पिव के पलँगा जा पौढूँगी मीराँ हरि रँग राचूँगी ।

(१०६)

मैं तो सांवरे के रँग राची ।
साजि सिंगार बांधि पग घुँघरू लोक लाज तजि नाची ।
गई कुमति लई साधु की संगति भगत रूप भई साँची ।
गाय गाय हरि के गुन निस दिन काल ब्याल सों बाँची ।
उण बिनि सब जग खारो लागत और बात सब काची ।
मीराँ श्री गिरधरन लालसूँ भगति रसीली जाँची ।

(१०७)

तूँ नागर नन्द कुमार, तोसें लाग्यो नेहरा ।
मुरली तेरी मन हरयो बिसरयो ग्रिह ब्योहार ।

---

(१०५) इसमें संसार के प्रति तीव्र वैराग्य और प्रभुजी के प्रति अनन्त भक्ति की कितनी सुन्दर व्यंजना है ।

(१०७) सच्चा प्रेमी इस बात की ओर नहीं देखता कि उसका प्रियपात्र उसपर प्रेम करता है या नहीं, वह प्रेम करने में ही आनन्द पाता है। प्रेम का नशा बहुत ही मादक होता है। हरिणी वंशी की तान-पर आनंद-विभोर होकर मृत्यु की गोद में छलांग मार जाती है। जल के बिना मछली का जीवन एक क्षण भी असंभव है परन्तु जल को

जबतैं स्रवननि धुनि परी ग्रिह आँगना न सुहाइ।
पारधि ज्यूं चूकै नहीं मृगी वेधि दई आइ।
पानी पीर न जाणई मीन तलफि मरि जाइ।
रसिक मधुप के मरम को नहिं समुझत कँमल सुभाइ।
दीपक को जु दया नहीं उड़ि उड़ि मरत पतंग।
मीराँ प्रभु गिरधर मिले (जैसे) पाणी मिल गयो रंग।

(१०८)

ऐसी लगन लगाइ कहाँ तूँ जासी।
तुम देखे बिन कल न परति है तलफि तलफि जिव जासी।
तेरे खातिर जोगण हूँगी करवत लूंगी कासी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल की दासी।

(१०९)

मैं गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।

उसकी व्याकुलता का क्या पता ? भौंरा कमल-कोष में बंद हो जाता है परन्तु कमल उसपर क्यों दया करने जाता ? पतंग दीपक पर अपने को निछावर कर देता है और भस्म हो जाता है परन्तु निर्मम दीपक उसपर कब स्नेह रखता है ? उसी प्रकार वह 'निठुर' भले ही द्रवित न हो, हमारा हृदय तो उसे प्यार किये बिना नहीं मानता। भक्त भगवान से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं रह सकता—उस के प्राण तड़पने लगते हैं।

(१०९) भक्त तो भगवान के हाथ में बिक जाता है फिर प्रभुजी जैसा रखना चाहैं वैसे ही रहना उसे सुन्दर प्रतीत होता है। *Cf.* जैसे राखहु वैसे ही रहौं—सूरदास।

रैण पड़ै तबही उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैण दिना वाके सँग खेलूँ ज्यूं त्यूं वाहि रिझाऊँ।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी उण बिनि पल न रहाऊँ।
जहाँ बैठावें तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर बारबार बलि जाऊँ।

(११०)

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो।
सब सखियन मिलि सीख दई मन एक न मानी हो।
बिनि देख्याँ कल नाहिं पड़त जिय ऐसी ठानी हो।
अंगि अंगि व्याकुल भई मुखि पिय पिय बानी हो।
अन्तर बेदन बिरह की वह पीड़ न जानी हो।
ज्यूं चातक घनकूं रटै मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ व्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसरानी हो।

(१११)

मैं हरि बिनि क्यों जिऊँ री माइ।
पिव कारण बौरी भई ज्यूं काठहि घुन खाइ।
ओखद मूल न संचरै मोहि लाग्यो बौराइ।
कमठ दादुर बसत जल में जलहि तें उपजाइ।
मीन जलके बीछुरे तन तलफि करि मरि जाइ।
पिव ढूंढण बन बन गई कहुँ मुरली धुनि पाइ।
मीराँ के प्रभु लाल गिरधर मिलि गये सुखदाइ।

(११२)

तुमरे कारण सब सुख छाड्या अब मोहि क्यूं तरसावौ हो।
विरह विथा लागी उर अन्तर सो तुम आय बुझावौ हो।
अब छोड़त नहिं बणै प्रभूजी हँसि करि तुरत बुलावौ हो।
मीराँ दासी जनम जनम की अंग से अंग लगावौ हो।

(११३)

गोविंद कबहुँ मिलै पिया मेरा।
चरण कँवल कूँ हँसि हँसि देखूँ राखूँ नैणाँ नेरा।
निरखण कूँ मोहि चाव घणेरो कब देखूँ मुख तेरा।
व्याकुल प्राण धरत नहिं धीरज मिलि तूँ मीत सवेरा।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर ताप तपन बहुतेरा।

(११४)

जोगिया से प्रीत कियाँ दुख होइ।
प्रीत कियाँ सुख ना मोरी सजनी जोगी मित न कोई।
राति दिवस कल नाँहि परत है तुम मिलियाँ विनि मोइ।
ऐसी सूरति या जगि माँही फेरि न देखी सोइ।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे मिलियाँ आणँद होइ।

(११५)

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आइ।
रूँम रूँम नख सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाइ।
मैं ठाढो ग्रिह आपणेरी मोहन निकसे आइ।
वदन चंद परकासत हेली मन्द मन्द मुसकाइ।

---

(११४) *Cf.* प्रीति करि काहू सुख ना लह्यो—सूरदास

लोक कुटुम्बी बरजि बरजहीं बतियाँ कहत घनाइ।
चंचल निपट अटक नहिं मानत पर हथ गये बिकाइ।
भलो कहौ कोई बुरी कहौ मैं सब लई सीस चढाइ।
मीराँ प्रभु गिरधर लाल बिनि पल भरि रह्यो न जाइ।

(११६)

मतवारो बादर आए रे, हरि को सनेसो कबहुँ न लाए रे।
दादुर मोर पपइया बोलै कोयल सबद सुणाए रे।
(इक) कारी अँधियारी बिजरी चमकै बिरहिण अति डरपाए रे।
(इक) गाजै बाजै पवन मधुरिया मेहा अति झड़ लाए रे।
(इक) कारी नाग बिरह अति जारी मीराँ मन हरि भाए रे।

(११७)

होरी खेलत हैं गिरधारी।
मुरली चंग बजत डफ न्यारो संग जुवति ब्रजनारी।
चन्दन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी।
भरि भरि मूठि गुलाल लाल चहुँ देत सबन पै डारी।
छैल छबीले नवल कान्ह सँग स्यामा प्राण पियारी।
गावत चार धमार राग तहँ दै दै कल करतारी।
फाग जु खेलत रसिक सांवरो बाढ्यौ रस ब्रज भारी।
मीराँ के प्रभु गिरधर मिले मन मोहन लाल बिहारी।

(११८)

फागुन के दिन चार रे, होरी खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै अणहद की झणकार रे।

(११६—११८) सावन और फागुन के महीने विरहिणियों

विनि सुर राग छतीसूँ गावै रोम रोम रँग सार रे।
सील सँतोख की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकार रे।
उडत गुलाल लाल भयो अंबर बरसत रंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिये हैं लोक लाज सब डार रे।
होरी खेलि पीव घर आये सोइ प्यारी पिय प्यार रे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल बलिहार रे।

(११९)

नैणा मोरे बाण पड़ी, साईं मोहिं दरस दिखाई।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरि मूरत, उर बिच आन अड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ, जीवण मूर जड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपणे भवन खड़ी॥
मीरा प्रभु के हाथ बिकानी, लोक कहें बिगड़ी।

(१२०)

ऐसी लगन लगाय कहाँ तू जासी॥
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है, तलफ तलफ जिय जासी॥१॥

को तड़पाने वाले होते हैं। इन महीनों में जब समस्त प्रकृति अपने आनन्द-मिलन का रास रचती है, विरहिणी का सूना हृदय विरह की ज्वाला से धधक उठता है।

(११९) प्रेम की विह्वल प्रतीक्षा में विरहिणी प्राणवल्लभ का पथ देख रही है। हृदय तो 'उस' पर निछावर हो ही चुका है मीरा तो उसके हाथ बिक ही चुकी है—लोग उसे भली कहें या बुरी—इसकी उसे क्या चिन्ता?

तेरे खातर जोगण हूँगी, लूँगी करवत : कासी ॥२॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल की दासी ॥३॥

(१२१)

तुम्हरे कारण सब सुख छोड़्या, अब मोहिं क्यूँ तरसावो ।
बिरह विथा लागी उर अंतर, सो तुम आय बुझावो ॥
अब छोड़्याँ नहिं बनै प्रभू जी, हँस कर तुरत बुलावो ।
मीरा दासी जनम जनम की, अंग सूँ अंग लगावो ॥

(१२२)

साजन घर आवो मीठा बोला ॥
कब की खड़ी खड़ी पंथ निहारूँ, थाँहीं आया होसी भला ॥१॥
आवो निसंक संक मत मानो, आयाँही सुख रहला ॥२॥
तन मन वार करूँ न्योछावर, दीजो स्याम मोहेला ॥३॥
आतुर बहुत बिलम नहिं करणा, आयाँही रँग रहेला ॥४॥
तेरे कारण सब रँग त्यागा, काजल तिलक तमोला ॥५॥
तुम देख्याँ बिन कल न परत है, कर धर रही कपोला ॥६॥
मीरा दासी जनम जनम की, दिल की घुंडी खोला ॥७॥

(१२३)

जब से मोहिं नंदनँदन दृष्टि पड़्यो माई ।
तब से परलोक लोक कछू ना सोहाई ॥

---

(१२२) 'उस' के बिना संसार के सब रस फीके हैं । उसके बिना सारा संसार व्यर्थ है । उसके मिलने पर ही जीवन का सच्चा सौंदर्य निखर पड़ता है—हृदय की कली फूल बन जाती है । 'उस' के ही खोले हृदय की गांठ खुल सकती है ।

(१२३) श्रीकृष्ण के सलोने रूप का कितना सुंदर वर्णन है !

मोरन की चंद कला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहे॥
कुँडल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना॥
सुंदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति विसेषा॥
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाड़िम द्युति चमके चपला सी॥

(१२४)

नैनन वनज वसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ॥
इन नैनन मेरा साहिब वसता, डरती पलक न लाऊँ री॥१॥
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री॥२॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री॥३॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, वार वार वल जाऊँ री॥४॥

(१२५)

होली पिया विन मोहिं न भावे,
घर आँगण न सुहावे॥
दीपक जोय कहा करूँ हेली, पिय परदेस रहावे।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागे, सुसक सुसक जिय जावे।
नींद नैन नहिं आवे॥ १ ॥

---

(१२४) इस पद में सूफ़ी संप्रदाय का प्रभाव स्पष्ट है।

कथ को ठाढ़ी मैं मग जोऊँ, निस दिन विरह सतावे।
कहा कहूँ कछु कहत न आवे, हिवड़ो अति अकुलावे।
पिया कब दरस दिखावे ॥ २ ॥
ऐसा है कोई परम सनेही, तुरत सँदेसो लावे।
वा विरियाँ कब होसी मोकूँ, हँस कर निकट बुलावे।
मीरा मिल होली गावे ॥ ३ ॥

(१२६)

रमैया बिन नींद न आवे।
नींद न आवे विरह सतावे, प्रेम की आँच ढुलावे ॥
बिन पिया जोत मंदिर अँधियारो, दीपक दाय न आवे।
पिया बिना मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बिहावे।
पिया कब रे घर आवे ॥ १ ॥
दादुर मोर पपिहिरा बोलै, कोयल सबद सुणावे।
घुमँट घटा ऊलर होइ आई, दामिन दमक डरावे।
नैन भर लावे ॥ २ ॥
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, वेदन कूण बुतावे।
विरह नागण मोरी काया डसी है, लहर लहर जिव जावे।
जड़ी घस लावे ॥ ३ ॥
को है सखी सहेली सजनी, पिया कूँ आन मिलावे।
मीरा कूँ प्रभु कब रे मिलोगे, मन मोहन मोहिं भावे।
कबै हँस कर बतलावे ॥ ४ ॥